॥ ओ३म् तत्सत् ॥

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ३ अङ्क ४

Year 3 Number 4

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक का १)

प्रकाशक:—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची:—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय—सद्गुरु		२
३—कर्म	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़	१०
४—अध्यात्म के स्तर	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	१३
५—अनन्त यात्रा		१६
६—भजन	तुलसीदास	२२
७—'अन्तिम निश्चित सत्य' की प्राप्ति का साधन	कुमारी सुषमा सिनहा	२३
८—पथिक (कहानी)	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२६
९—ब्रह्मस्तवनम्	श्री मद्भागवत् से उद्धृत	३२
10-Our Present State & our Duty	*Shri Ram Chandra Ji President S. R. C. M.*	*33*
11-Life of my Life	*E. G. A. Holmes*	*39*
12-Philosophy or What	*Shri Raghavendra Rao*	*36*
13-Synthetic Outlook of the Hindu view of life	*Shri Sarabjit Singh M. A.*	*40*
14-The Explanation of the Imagination of Purification	*Dr. K. C. Varadachari M. A., Ph. D.*	*48*
15-Misunderstandings about Yoga 1-Yoga and worldly life	*Shri Ishwar Sahai*	*51*
16-Experiences of an Abhyasi	*An Abhyasi*	*59*

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।)

वर्ष ३] पौष शाकाब्द १८८१, सं० २०१६ विक्रमी [अङ्क ४

Year 3] December 1959–January 1966 [No. 4

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री राम चन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीयः-

सद्गुरु

सद्गुरु का महत्व प्रत्येक शिक्षा में है । कोई भी विद्यार्थी यह निःसङ्कोच स्वीकार करेगा कि किसी भी विषय का वास्तविक ज्ञान जितनी सुस्पष्टता के साथ एक अच्छे गुरु के सम्पर्क द्वारा उत्पन्न होता है, उतना और किसी प्रकार नहीं । गुरु वास्तव में किसी सूक्ष्म विषय (तत्व) का मूर्त स्वरूप होता है; और इसी रूप में उसका महत्व होता है । अतः जो गुरु अपने विषय से जितनी मात्रा में तदाकार होसका है, उतनी ही मात्रा में वह वास्तविक गुरु है । शरीर, मानसिक सहति आदि विशिष्टताएँ तो उस सूक्ष्म तत्व की अभिव्यक्ति के सीमित माध्यम मात्र हैं; और उन्हें वास्तव में ऐसा ही बना डालने वाला सच्चा गुरु माना जाने का अधिकारी है । जिसका स्वार्थ और अहंता उस के अपने विषय के प्रति अनन्य प्रणति में जितना ही विलीन हो चुके होंगे, उसका उक्त विषय का ज्ञान उतना ही वास्तविक (Real) और ऋजु (Direct) होगा; और वह अपने विद्यार्थियों को उतना ही सच्चे और स्थायी रूप से उस विषय से परिचित और संलग्न कर सकेगा ।

जब यह बात साधारण विषयों के गुरु के बारे में परिलक्षित होती है, तो फिर अध्यात्म और ब्रह्म--विद्या के विषय में तो कहना ही क्या ! वह तो पद--प्रति--पद व्यक्तित्व के सतत विकास अर्थात् साक्षात्करण (Realization) की प्रक्रिया है । अतः इस विषय का गुरु तो वही हो सकता है, जिसकी साधारण अर्थ में 'स्व'--सम्बन्धी जिन्दगी पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी हो, क्यों कि ऐसा ही व्यक्ति तो अपने शिष्य की 'स्व'--सम्बन्धी जिन्दगी को समाप्त कर के उसे एक साधारणीकृत (Generalized) अथवा उस से भी उच्चतर

साक्षात्कृत (Realized) जिन्दगी प्रदान कर सकने में सफल हो सकेगा । एक उर्दू कवि के शब्दों में सद्गुरु तो क़ातिल (हत्यारा) होता है :—

'जब से सुना है हमने, बस मौत जिन्दगी है ।
सर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूँढते हैं ॥
क़ातिल वही है अपना जो खुद ही मिट चुका हो ।
उस जिन्दगी की खातिर खुद खाक बन चुका हो ॥'

कबीर के शब्दों में सीमित व्यक्तित्व अर्थात् अहं की विभूति--पूर्ण स्थिति का अतिक्रमण कर के असीम के क्षेत्र में विहार करने वाला ही 'गुरु' (पीर) हो सकता है, (उसके पूर्व तो 'स्व' अर्थात् सीमित अहं की विभूतियोंपर अधिकार प्राप्त कर के चमत्कारपूर्ण शक्ति प्रदर्शन मात्र रहता है, जो ब्रह्म-विद्या के गुरु की स्थिति नहीं कही जा सकती ।)—

'हद चले सो औलिया, बेहद चले सो पीर ।'

श्रद्धेय 'बाबू जी' ने अपनी पुस्तक Reality at Dawn के दूसरे अध्याय में इन स्थितियों का चित्रण वृत्तों (Circles) की सहायता से किया है । बाहरी पाँच वृत्त 'माया' अर्थात् 'आवेग' का क्षेत्र (Heart Region) हैं । इन्हें पार कर जाने वाले को 'माया' (Phenomenal Existence) पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, और उसे कबीर के शब्दों में 'औलिया' कहा जा सकता है । [आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसे संवेद्य जगत (Phenomenal Existence) से सम्बन्धित समस्त विज्ञानों पर अधिकार प्राप्त कर के निर्माण और विनाश की चमत्कार पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न व्यक्ति की स्थिति के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें व्यापक दृष्टि के कारण अनेक देवोपम और सन्तोचित सद्गुणों का भी विकास हो जाता है ।] किन्तु इस के आगे (अन्दर) ग्यारह वृत्त 'अहता' (Egoism) अर्थात् 'विबोध' का क्षेत्र (Mind Region) है । इन्हें पार कर जाने पर 'अह' की सीमा नष्ट हो जाती है, और 'अहता' का भाव प्रायः समाप्त हो जाता है । कबीर ने इस स्थिति का वर्णन एक सुन्दर रूपक का प्रयोग कर के दिया है :—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है' बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह कथ कथौ गियानी ॥

विबोध–प्रधान पाश्चात्य दर्शन की दृष्टि से इस स्थिति की उपयुक्त अभिव्यक्ति लगभग असम्भव ही है । पाश्चात्य दर्शन के पारिभाषिक शब्दों में इसे रहस्यानुभव (Mystic Experience) कहा जा सकता है, यद्यपि यह अनुभव वास्तविक स्वस्थ चेतना का एक स्तर ही है । श्री 'बाबू जी' ने एक वार्तालाप के समय इस प्रकार की स्थिति की बड़े सादे शब्दों में अभिव्यक्ति की थी, "जब 'मैं' शब्द का प्रयोग करते समय यह पता न रह जाये, कि यह शब्द किस के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है ।" [पाश्चात्य दर्शन की विबोध प्रधान दृष्टि के लिए यह विबोधोपरि चेतना की स्थिति रहस्यात्मक भले ही हो, किन्तु 'अहता'–रोग से पीड़ित वैज्ञानिक–शक्ति–सम्पन्न आधुनिक मानव–संस्कृति की ज्वलन्त समस्या की दृष्टि से इस आध्यात्मिक स्थिति की उपयोगिता और वाञ्छनीयता के विषय में शायद ही किसी को सन्देह करने की गुञ्जायश हो । पशुत्व और देवत्व की मध्यस्थ मानवता में इस स्थिति के लिए स्वाभाविक ललक मौजूद है; और इस स्थिति तक पहुँच सकने वाला व्यक्ति मानव समाज में युगों तक पुजता है ।] यही स्थिति कबीर के 'पीर' अर्थात ब्रह्म–विद्या के 'सद्गुरु' की स्थिति है, जहाँ 'अहता' के सीमत्व अर्थात 'हद' का क्षेत्र समाप्त होकर असीमत्व अर्थात् 'बेहद' का क्षेत्र प्रारम्भ होता है, जिस में 'सद्गुरु' विचरण करता है ।

'सद्गुरु' की स्थिति को स्पष्ट करते हुये श्री 'बाबू जी' ने 'Reality at Dawn' के 'गुरु'–शीर्षक चौथे अध्याय में अत्यन्त मार्मिक शब्दों का प्रयोग किया है, "मेरा विश्वास है कि जिसके मन में गुरु होने का विचार एक बार भी आ जाये, वह जीवन भर गुरु होने का अनधिकारी हो जाता है । इस विचार का आना ही इस का प्रमाण है कि उसके हृदय में बड़प्पन और आत्म श्लाघा (अहंता) की भावना मौजूद है ।" एक वार्तालाप में श्री 'बाबू जी' ने इस स्थिति को और भी अधिक मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया था । एक सज्जन उनके पास आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करने के

उद्देश से आये और कहा, "मेरे गुरु तो पहले से ही हैं । गुरु मैं उन्हीं को मानते हुये आपसे शिक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ ।" तुरन्त उत्तर मिला, "इसमें कोई हर्ज नहीं । गुरु तो सचमुच एक ही है । यदि अन्तर करना ही चाहो तो गुरु किसी को भी मानो, मुझे सेवक मान कर मेरी सेवा ग्रहण करते जाओ ।"

'सद्गुरु' (पीर) की आध्यात्मिक स्थिति तक पहुँचने वाले व्यक्ति में सचमुच लोक–कारुण्य से उत्पन्न ब्रह्मार्पित लोक–सेवा भाव जाग उठता है । तपस्वी राजकुमार सिद्धार्थ ने जब बुद्धत्व प्राप्त किया तो उन्हें लगा कि समस्त दुःख और अभाव नष्ट हो गये । उसी स्थिति में कई सप्ताह मस्त फिरते रहे । फिर विचार आया कि बड़े परिश्रम के साथ भव–सागर (Ocean of Becoming) को पार करने के लिए जिस बजरे (Raft) का निर्माण किया, उसे दुःख के समुद्र को पार कर लेने के बाद नष्ट होने के लिए फेंक देने की अपेक्षा ऐसे लोगों को देना अधिक अच्छा है, जो अभी उस सागर में पड़े हैं । इसी भावना के अन्तर्गत उनके द्वारा धर्म–चक्र प्रवर्त्तन हुआ, और उनका कारुणिक लोक–सेवक रूप विकसित हुआ, जिस पर कुछ विकृत रूप से महायान बौद्ध मत में बल दिया गया । एक सच्चा 'सद्गुरु' तो अपना सब कुछ लुटाने के लिए उतावला होता है । वह तो ऐसे सच्चे शिष्य को पाने के लिए तड़पता है, जो उस की सारी निधि ले ले । श्री 'बाबू जी' को अनेक बार कहते सुना कि 'जब कोई मेरे पास ब्रह्म–विद्या सीखने के उद्देश से आता है, तो मुझे ऐसा लगता है कि उसने मुझ पर एहसान किया है ।' यह भावना तो किसी भी साधारण विषय के ऐसे सच्चे गुरु में रहती है, जो वास्तव में अपने को भूल कर अपने विषय से तदाकार हो चुका हो। सच्चे सद्गुरु के पास जो अनमोल निधि होती है, उसे लेने का साहस तो किसी बिरले शिष्य में ही हो पाता है, क्यों कि साधारणतः शिष्य गुरु के पास कुछ न कुछ माँगने जाता है, जो कुछ गुरु देने के लिए बेताब रहता है, वह लेने नहीं । शिष्य के स्वरूप पर अधिक विचार किसी अगले अङ्क के लिए स्थगित करके 'सद्गुरु' की इन दो विशेषताओं को स्पष्टतः दुहराना उचित है :—

(१) ब्रह्म विद्या का 'सद्गुरु' होने की योग्यता एक विशेष आध्यात्मिक स्थिति में पहुँचने पर उत्पन्न होती है, जिसकी विशिष्टता यही है कि 'अहता' की समाप्ति हो चुकी हो।

(२) उपर्युक्त आध्यात्मिक स्थिति में पहुँचे हुये व्यक्ति की मुख्य पहचान यह है कि अपने विषय (ब्रह्म-विद्या) के प्रशिक्षण की पूर्ण योग्यता का परिचय देते हुये भी उसमें गुरु होने की भावना न रहे। दूसरे शब्दों में उस का असल लगाव अपने इष्ट से ही हो; प्रशिक्षण तो एक प्रकार से प्रियतम इष्ट को समर्पित सेवा मात्र हो। अतः प्रशिक्षण भी उसे अपने लक्ष्य की ओर स्वयं अपनी ही प्रगति का साधन प्रतीत हो। ऐसी स्थिति में प्रशिक्षण किसी अन्य पर एहसान की भावना से नहीं, बल्कि इसके ठीक विपरीत स्वयं अपने पर उन प्यारे शिष्यों के अनुग्रह की भावना से हो। [किन्तु यहाँ पर एक चेतावनी नितान्त आवश्यक है, कि यहाँ 'सद्गुरु' की भावना की ही बात चल रही है, शिष्य के कर्तव्य, भावना और अभिवृत्ति (attitude) की बात नहीं। शिष्य के लिए तो 'सद्गुरु' ही—यदि वह मिल जाये चरम परम लक्ष्य है। इस पर पिछले अङ्क के 'भक्ति' शीर्षक सम्पादकीय लेख में विचार किया जा चुका है, और आगे भी किसी अङ्क में 'शिष्य' के स्वरूप पर विचार किया जायेगा।]

(३) इन दो विशेषताओं के साथ ही एक सबसे महत्व पूर्ण विशेषता ध्यान में रहना अनिवार्य है। एक ऊँची आध्यात्मिक स्थिति में होना और गुरु होने की भावना से पूर्णतः शून्य होना अनिवार्य होते हुए भी एक 'सद्गुरु' का निर्माण करने के लिए ठीक उसी प्रकार अपर्याप्त हैं, जैसे कि अत्यधिक विद्वान और वास्तविक अर्थ में कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति अच्छा अध्यापक नहीं हो सकता, यदि उसमें अपने विद्यार्थियों की योग्यतानुसार उन में अपने ज्ञान को उतार देने की क्षमता का अभाव हो। सद्गुरु का कार्य तो प्रधानतः दूसरों की सहायता करना है। अतः सहायता करने की विधि (Technique) में पारङ्गत होना उस के लिए नितान्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ साधारण स्कूल के विषयों का ज्ञान सूचना के रूप में अपने विद्यार्थियों में उतारने के लिए उक्त विषयों के अच्छे अध्यापक के लिए भाषा पर समुचित अधिकार और कक्षा-भाषण, प्रश्नोत्तर आदि विधियों के

दक्षता पूर्ण प्रयोग की योग्यता आवश्यक है। इसी प्रकार किसी क्रियात्मक (Practical) विषय उदाहरणार्थ शल्य-चिकित्सा (Surgery), नृत्य (Dancing), मूर्ति निर्माण-कला (Sculpture) आदि के अच्छे शिक्षक के लिए भाषा पर अधिकार और भाषण की दक्षता की अपेक्षा कुछ विशिष्ट व्यावहारिक क्रियाओं के प्रदर्शन (Demonstration), प्रक्षेपण (Suggestion) और अधीक्षण (Supervision) की योग्यता अधिक आवश्यक है।

ब्रह्म-विद्या के क्षेत्र में 'सद्गुरु' की इस योग्यता का स्वरूप कुछ और ही हो जाता है। ब्रह्म-विद्या तो मानव के अनन्त पूर्णत्व के उत्तरोत्तर विकास की विद्या है, अतः इस विद्या के सच्चे गुरु के लिए एक ही बात अनिवार्य है कि उस में देवोपम सन्तोचित स्थितियों को अभ्यासियों में उतार सकने की योग्यता हो। उदाहरणार्थ कृष्ण द्वारा अर्जुन को महाभारत युद्ध के प्रारम्भ से पूर्व कुछ क्षणों में स्थितप्रज्ञ आदि आध्यात्मिक स्थितियों का अनुभव प्रदान किया जाना, जो बाद में विस्तारपूर्वक 'गीता' के रूप में विकसित किया गया। सहज-मार्ग साधना पद्धति की पारिभाषिक शब्दावलि में इस प्रक्रिया को प्राणाहुति (Transmission) कहा जाता है, जिस पर विस्तृत रूप से विचार पत्रिका के अगले अङ्क में किया जायेगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्रह्म-विद्या के क्षेत्र में व्यवस्थित प्रशिक्षण (Systematic Training) प्राणाहुति (Transmission) की विधि (Technique) के प्रयोग के बिना कदापि सम्भव नहीं, और जिस में इस के दक्षता पूर्ण प्रयोग की योग्यता नहीं, वह ब्रह्म-विद्या का 'सद्गुरु' कहलाने का अधिकारी नहीं। साधारणतः तो अच्छी भाषण क्षमता, विभिन्न चमत्कार-प्रदर्शन, सद्व्यवहार या ऋद्धि-सम्बन्धी विधि-विधान का पालन, यहाँ तक कि विशिष्ट रूप-सज्जा और शारीरिक स्वास्थ्य आदि के आधार पर ही लोगों को 'सद्गुरु' की उपाधि मिल जाती है। किन्तु प्राणाहुति इस सब से भिन्न है, यद्यपि 'सद्गुरु' की प्राणाहुति द्वारा संवेदनशील (sensitive) अभ्यासी का शरीर, मन, बुद्धि, वाणी आदि सभी कुछ प्रभावित होता है, जैसे किशोरावस्था या यौवन जब आता है तो किसी विशेष अङ्ग तक सीमित नहीं

रहता, रोम-रोम में उफनता है; सवेरा होने पर कमरे में पूर्व दिशा वाली खिड़की से ही नहीं, किन्तु सभी ओर से प्रकाश आता है। मानव के विकास के प्रति वास्तविक 'सद्गुरु' की 'प्राणाहुति' की देन कुछ कुछ समझने का प्रयास बालक के विकास के प्रति उसकी माँ के प्राणों की आहुति की उपमा द्वारा किया जा सकता है, यद्यपि सच्चे 'सद्गुरु' के दान की मौलिकता (originality) को कोई भी उपमा पकड़ नहीं सकती।

अन्त में यह महत्वपूर्ण प्रश्न अवश्य शेष रह जाता है कि सच्चे 'सद्गुरु' की पहिचान प्रारम्भ से ही करने का क्या उपाय है! इस विषय में जो बात किसी साधारण विषय के अच्छे गुरु की खोज के बारे में है, लगभग वही ब्रह्म-विद्या के सद्गुरु के बारे में भी समझना चाहिए। इस प्रकार की खोज में सब से अधिक सहायता उक्त विषय के प्रति खोज करने वाले की सच्ची लगन और तड़प से ही मिल सकती है। किन्तु कभी २ एक सच्चे विद्यानुरागी को भी अच्छा अध्यापक नहीं मिल पाता, और कभी २ एक विषय से सच्चा अनुराग न रखने वाले विद्यार्थी को भी अच्छा अध्यापक मिल जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि सच्ची लगन और तड़प वाला साधक किसी धूर्त अथवा निम्न कोटि के गुरु से स्थायी रूप से संतुष्ट नहीं रह सकता; और वास्तविक 'सद्गुरु' के मिल जाने पर उस से सम्बन्ध की दृढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी। बिलकुल पहली भेंट में 'सद्गुरु' की पहचान का प्रश्न अब भी शेष है। वास्तव में यह पहले ही लिखा जा चुका है कि वास्तविक सद्गुरु अपने विषय का मूर्त रूप होता है, अतः जैसे मरुस्थल में किसी झरने के निकट पहुँचते ही जल के स्वाभाविक गुण-शीतलता से सम्बन्धित शान्ति, तृप्ति, ताज़गी, उतावली, जड़ता, स्फूर्ति आदि जाने क्या क्या अनुभव होने लगता है, वैसे ही सच्चे सद्गुरु के पास पहुँचते ही उस विषय के स्वाभाविक गुण से सम्बन्धित अनेक अनुभव प्रत्यक्ष हो उठते हैं। अब, ब्रह्म-विद्या अपनी वास्तविकता (Reality) के उत्तरोत्तर साक्षात्करण (Realization) की विद्या है, अतः इस के सच्चे 'सद्गुरु' के पास पहुँचने पर उन्हीं सब अनुभवों का आरम्भ हो जाता है, जो अपने व्यक्तित्व के प्रकृतिकरण (Naturalization) की सूचना देने लगते

हैं, उदाहरणार्थ इन्द्रियों, आवेगों, भावनाओं, विचारों आदि का अस्वाभाविक विषयों की ओर से खिंच कर स्वाभाविक विषयों में प्रवृत्त होने लगना, चित्त की उथल पुथल में ठहराव का अनुभव (एक प्रकार की जड़ता), इन्द्रिय, मन आदि पर से अस्वाभाविक आसक्ति का बोझ कम पड़ने के कारण कुछ ताज़गी और हल्केपन का अनुभव, वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति का विश्वास, और उसे प्राप्त कर लेने की बेचैनी (जिन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है), इत्यादि। इस प्रकार के अगणित अनुभवों का ग्रहण और विश्लेषण निःसन्देह जिज्ञासु अभ्यासी की ब्रह्म-विद्या के प्रति सच्ची लगन, लक्ष्य की सुस्पष्टता, अनुभवों के प्रति सवेदनशीलता, और उन का निरीक्षण एव विश्लेषण करने की योग्यता आदि पर निभर होगा। सच्चे सद्गुरु के अनुदान (*Contribution*) की वास्तविक परख और पहचान बहुत कठिन होती है। अच्छे गुरु दो प्रकार के होते हैं:—(१) जो अनेक मनोरंजक विधियों का प्रयोग कर के शिष्य को सब ओर से अभिभूत कर के अपनी योग्यता और महत्ता का सिक्का उस पर जमा देते हैं; और (२) जो अपनी योग्यता और महत्व के प्रदर्शन की अपेक्षा शिष्य के वास्तविक सुधार और विकास के लिए लालायित और प्रयत्नशील रहते हैं। साधारणतः शिष्य पहले प्रकार के गुरु द्वारा प्रभावित होता है, और उस के यशःगायन मे आजन्म तल्लीन रहता है, यद्यपि आत्म-विकास की दृष्टि से शिष्य का इतना भी लाभ नहीं होता कि उस में ऐसे गुरु द्वारा सिखाये गये विषय के प्रति वास्तविक स्थायी अनुराग पैदा हो जाये। वास्तव में इस कोटि के गुरुओं में स्वय ही अपने विषय के प्रति वास्तविक स्थायी अनुराग नहीं होता, विषय का ज्ञान तो उन के

[शेष पृष्ठ १२ पर देखिये]

कर्म

(समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़)

(क्रमागत)

पहली परिभाषा आत्मा की है और दूसरी ब्रह्म की। अन्तर यह है कि आत्मा सीमित है और ब्रह्म असीमित। और इसी से ब्रह्म को परमात्मा कहते हैं। ब्रह्म के लिये तो शुभ और अशुभ फल का कोई प्रश्न नहीं है, क्यों कि वह कुल[1] है। यह प्रश्न तो केवल जुज्व[2] के लिये है और उसी में है। जुज्व अल्पज्ञ को कहते हैं और ब्रह्म सर्वज्ञ को। सर्वज्ञ बिलकुल खुद सम्पूर्णतः कानून है जो कमाल[3] की सूरत है। अल्पज्ञ या अंश में अल्पज्ञता या आंशिकता का नुक्स[4] होता है; और सवाल जवाब हमेशा नुक्स की हालत में किए जाते हैं। नुक्स कमी को कहते हैं और कमी पूरी की ही जाती है। कमाल खुद पूरा है उसको कोई क्या पूरा करेगा! अतः पूर्णता की हालत में न जज़ा[5] है न सज़ा[6]।

जब आत्मा में जिन्दगी की इच्छा आती है तब उसका नाम जीव होता है। जिसमें जीने की इच्छा हो उसे जीव कहते हैं। इस जीव की दृष्टि कमी पर रहती है। वह सदैव, क़िल्लत और मोहताजी अनुभव करता रहता है, जो कि मुसीबत और दुःख का कारण है, और इन्हीं की वजह से जीव की जिन्दगी दुःखमय हो जाती है; और दुःख के प्रभाव के अन्तर्गत वह तरह तरह के ऐब (दुर्गुण) अपने अन्दर पैदा कर लेता है। अपना भला चाहना और दूसरे को हानि पहुँचाना आदि—इस दुविधा अर्थात् दो तरह से देखने, सोचने और काम करने से उसकी नज़र गैरियत पसन्द होती जाती है। अर्थात्

१–पूर्ण (*Whole*), २–अंश (*Part*), ३–पूर्णता (*Perfection*), ४–कमी (*Shortcoming*), ५–शुभ फल (*Reward*), ६–अशुभ फल (*Punishment*)

जीव अपने आपको नाकारा, हक़ीर और हेच समझता है, और दूसरे की हालतों को अपने से अच्छा समझता है। वह अपनी हैसियत[7] का निन्दक और दूसरों की हैसियत का प्रशंसक बना रहता है। यह गैरियत पसन्दी है।

गैरियत पसन्दी जीव को कसरत[8] के क्षेत्र में डाल देती है और उसमें कसरत पसन्दी आ जाती है; यानी सब को एक जैसा न मानना किन्तु विभिन्न अगणित और अनेक जानना कसरतपसन्दी है।

जीव अपने को नहीं देखता, औरों को देखता है, और यह नुक़्स उसको भ्रम में डाल देता है। दृष्टि बिलकुल बहिर्मुखी हो जाती है और अन्तर्मुखी नहीं रहती। और बहिर्मुखी होने से जीव की वही हालत हो जाती है जो बरसात के महीने में घर से बाहर निकले हुये आदमी की होती है। और तब वह तरह तरह के ज्योनिकर्म[9] करने लग जाता है, जिनमें आश्चर्य, लालसा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता, शत्रुता, स्वार्थपरायणता और वासना आ जाती हैं। इनमें दिल-दुखाना सब से बुरा काम है। संक्षेप में इन सब कर्मों के लिए सज़ा निर्धारित है। अनुभव करने, सज़ा भोगने और तरह २ के दुःख उठाने पर उसको फिर नेकी सूझने लगती है, और वह मेल मिलाप, भलाई सुधार का इच्छुक होता है। गोया बुराई के गर्भ से नेकी का जन्म होने लगता है; और तब वह दान, क्षमा, विनम्रता, पर-हित आदि की इच्छा को बल दे दे कर उभारने लगता है, और अनुभव उसे सही रास्ते पर लाता है, जिसको सराते-मुस्तक़ीम[10] कहते हैं। इन सब कर्मों के लिये जज़ा यानी नेक बदला मिलने लगता है, और तब वह समझ जाता है कि बदी बुरी और नेकी अच्छी है। और वह दोनों की तुलना करके नेकी को बदी पर श्रेष्ठता प्रदान करने लगता है। यहीं से पाप और पुण्य की परस्पर विरोधी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ दिन वह इस खींच-तान

७–स्थिति (*Position*), ८–अनेकत्व (*Multiplicity*) ९–जीवत्व से उत्पन्न और उसके पोषक कर्म (*Actions arising from and maintaining the living organism*) १०–सन्मार्ग (*Right Path*)

में रहता है। फिर जब बदी को बिल्कुल छोड़ कर सम्पूर्णतः नेकी बन जाता है, तब प्रकृति के विधान अर्थात् सृष्टि कर्म[11] के साथ अनुकूलता और समरूपता पैदा करने लगता है। किन्तु अभी तक उसमें नेकी और बदी के अनुभव और समझ का तत्व शेष है (जो नुक़्स से ख़ाली नहीं है), और हमेशा यह नतीजा निकलता रहता है कि अहिंसा परमधर्म, और हिंसा महापाप है।

(क्रमशः)

[पृष्ठ ६ का शेषांक]

अपने महत्व के प्रदर्शन का साधन मात्र होता है। अतः वे शिष्य को भी वही चीज़ प्रदान करते हैं, जो उन में है। वास्तविक सद्गुरु उपर्युक्त दूसरी कोटि में आता है, उस के पास केवल मनोरंजनार्थ जाने वाले शिष्य अधिक ठहर नहीं सकते। वह तो अपने विषय के प्रेम की राह में अपने को मिटा चुका होता है, अतः उस की परख और पहचान तो वही शिष्य कर सकेगा, जिस के हृदय में उक्त विषय के प्रति सच्चा अनुराग कम से कम बीज रूप में पड़ चुका हो। सच्चे 'सद्गुरु' और सच्चे 'शिष्य' का संयोग सचमुच दोनों के ही सौभाग्य की चरम सीमा है। वास्तव में सच्चे अभ्यासी अर्थात् शिष्य के स्वरूप पर विस्तृत रूप से विचार अलग करना ही उचित होगा।

—सम्पादक

११–सृष्टि से उत्पन्न और उसके पोषक कर्म (*Actions arising from and maintaining the creative Nature*)

अध्यात्म के स्तर

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

हम जब किसी काम को अपने से निस्बत (सम्बन्ध) दे लेते हैं तो उसकी कामयाबी और नाकामयाबी पर हमको खुशी और रंज होता है, बस यही एक चक्कर है जो हमको बन्धन में रखता है। इस चक्कर से छुटकारा मिलना ही रास्ता खुल जाना है। अब यह खुलता कैसे है? जब हम किसी बड़ी ताक़त से सम्बद्ध हो जाते हैं, अगर ईश्वर ने यह वक़्त दिखा दिया और कहीं यह हालत पैदा हो गई तो फिर समीप (हम-कनार) भी जल्द होने लगते हैं और मंजिलें पार होते देर नहीं लगती। रोना तो इसी का है कि कोई इस बात का कोशिश नहीं करता कि कम से कम हम सम्बन्धित (बा-निस्बत) ही हो जायें, अगर फ़ना होने का हम अपने आप को मौक़ा नहीं देते। निस्बत पैदा होने की तरकीब आत्म-समर्पण (Self-surrender) है। यद्यपि यह चीज़ मुश्किल ज़रूर है ख़ास कर उन लोगों के लिए जिनके दिल में कोई भारी बोझ ऐसा मौजूद है कि ऊपर उठने का इस मामले में मौक़ा नहीं देता। फिर भी उतना ही करे जितना कि अच्छा विद्यार्थी (तिफ़्ले मकतब) अपने उस्ताद के साथ करता है। सबसे पहली चीज़ या पहली सीढ़ी आत्म समर्पण (Self-surrender) का अनुशासन (Discipline) है, अगर ख़याली Discipline हम पहले क़दम पर नहीं कर सकते तो कम से कम जिस्मानी Discipline तो हम को शुरू ही कर देना चाहिए। फिर यह हो सकता है अगर उस्ताद की क़ाबिलियत और इस्तेदाद दिल पर अङ्कित है तो ज़रूरी है कि ख़याली इज्ज (दीनता) शुरू हो जायेगा, बशर्ते कि शागिर्द वाक़ई तालीम हासिल करना चाहता है। इन सीढ़ियों पर जो कि प्रारम्भिक हैं अगर कहीं किसी ने क़दम रख दिया तो तबियत अगली सीढ़ी ख़ुद ब ख़ुद टटोल

लेगी। हम बस तबियत से अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये रुजू हो जायें। फिर क्या है, मोहब्बत का भी आरम्भ हो जाता है और उस वक्त ज्यादा जब कि मुअल्लिम (सिखाने वाला) की क़ाबिलियत पर आशक्त (दिलदादा) हो जाते हैं। मगर यहाँ अपने दायरे में अब तक मेरा यह समझ में नहीं आया कि वाक़ई लोग अपने मक़सद पर पहुँचना चाहते हैं या नहीं। अगर पहुँचना ही चाहते हैं तो यह सब बातें खुद ब खुद पैदा हो गई होतीं। शौक लाज़मी है, और शौक उस वक्त पैदा होता है जब कि उसको मक़सद से जिस पर कि उसको पहुँचना है लगाव होता है। यह भी है कि चन्द लोग थोड़ा देर के लिए चित्त शान्त करने के लिए मेरे पास बैठ जाते हैं, और यह भी ग़नीमत है कि मैं अपने भाई को कम से कम थोड़ी ही देर के लिए आराम दे पाता हूँ। मगर भाई सिर्फ इतनी ही खुशी जो कि अभ्यासी के दिल में पैदा होती है काफी नहीं है। मगर होता यही है। तजुर्बा गवाह है; कोई बिरले ही ऐसे मिलेंगे कि जो अज़-राहे दोस्ताना व मुशफ़िक़ाना (प्रेमपूर्वक) मुझ से ही हम-किनार होने के लिए तैयार हों, ईश्वर तो बहुत बड़ी चीज़ है। और भाई मुझ से जब कोई मोहब्बत करता है तो मेरी तबियत बड़ी तर व ताजा हो जाती है, गोया खुश्क चीज़ में तरावट आजाती है। तो भाई इतना ही मक़सद किसी का क्यों होने लगा जब कि उसके मोहब्बत करने के लिए बड़ी से बड़ी चीजें मौजूद हैं। हमें तो भाई वह पूछेगा जो सब कुछ खो चुका हो या सब कुछ खोना चाहता हो। और भाई, कुछ अजीब मज़ाक़ है और अजब शौक है कि जब मैं अपने आप को खो चुका तब मैं यह चाहता हूँ कि मेरी कोई खोज करे। तो मैं समझता हूँ कि कोई अक़्लमन्द आदमी खोये की खोज न करेगा, और फिर कैसा खोया हुआ जिसका पता तक न रहा। मैं समझता हूँ कि मेरा यह शौक इसी लिए दूसरों में जज्बा नहीं पैदा करता, इस लिए कि खोये हुए का शोक़ भी खोया हुआ होगा। जब यह बात है तो उसमें कौन सी ऐसी चीज़ रह जाती है कि जो दूसरे को इस खोई हुई खोज की खोज करा सके!

जब यह ख़त मैं लिखा चुका तो दो तीन बातें जो ख़त लिखाने से पहिले मेरे ख़याल में मौजूद थीं इस वक्त याद आ गईं। हम

रूहानियत (आध्यात्मिकता) सिखाने निकले हैं। किनको ? जो खुद रूहानी आदमी है। Political view से अगर देखता हूँ तो मुझे हर शख्स रूहानियत में मिलता है, चाहे वह किसी प्रकार का हो। देखिये, मेरे ख़याल से रूहानियत की तीन किस्में हो सकती हैं:-

अव्वल Pure spiritualism. (शुद्ध आध्यात्मिकता)

दूसरी Characterless spiritualism. (चरित्र हीन आध्यात्मिकता)

तीसरी Idiot type of spiritualism. (बुद्धि हीन आध्यात्मिकता)

न० १ की बाबत मुझे कुछ कहना नहीं है; हमारे क़िबला लाला जी साहब की तालीम ही पुकार रही है कि इसके दिलदादा बनो, और वह यही चीज़ हम सबको दे रहे हैं।

न० २ में वह लोग आते हैं कि जो चोरी, डकैती या इसी तरह के काम के लिए जब जाते हैं, तो अक्सर यह प्रार्थना करते हैं कि उनके काम में कामयाबी हो और मुमकिन है कि कुछ मानता मानते हों; और चन्द लोग उसमें ऐसे भी होंगे कि इस अपनी कामयाबी में सत्यनारायन की कथा भी कहलाते हों या किसी देवी या देवता की मुख़तलिफ़ तरीक़े से आराधना करते हों। तो हैं भाई यह भी spiritualist; इस लिए कि वह एक बड़ी ताकत की याद कर लेते हैं।

न० ३ का तादाद बहुत होगी। मेरी समझ से उनके नाम और तारीफ़ अगर की जायें तो हिन्दुस्तान में इस वक्त जितना काग़ज़ कि मौजूद है वह भी उनकी तारीफें लिखने में काफी न होगा। इसमें वह सब लोग आ जाते हैं जो मस्तक घिसना जानते हैं या ठोस चीज़ों को अपनी पूजा में रखकर दिल बहला लेते हैं। तो मैं समझता हूँ कि हिन्दुस्तान में सबके सब व्यक्ति करीब करीब spiritualist मिलेंगे। यह मुमकिन है कि मेरे सत्संगियों में कुछ ऐसे आदमी मिल जावें कि इन तीनों किस्मों में से किसी किस्म में न आते हों। वैसे एक चौथी किस्म भी पैदा हो सकती है मगर उसको मैं यों लिखना नहीं चाहता कि मुमकिन है उसकी सिर्फ एक ही मिसाल हो।

यह बातें ऊपर की मैंने विद्वानों के लिये लिखी हैं। सम्भवतः वह इसको बहुत पसन्द करेंगे। हालांकि यह कोई नयी चीज नहीं।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म-विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं। —सम्पादक]

(पत्र संख्या ३१)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

मेरा एक पत्र आपको मिला होगा। पूज्य.....को जो आपने पत्र डाला था उससे मालुम हुआ कि आप ता.....की, रात को जायेंगे और अभी यहाँ न आ सकने के कारण मुझ से माफ़ी माँगने को लिखा था। कृपया मेरे लिए आप यह शब्द न लिखा करें। क्षमा तो उल्टी मुझे आपसे माँगनी चाहिए क्यों कि 'मालिक' के काम की तड़प के आगे मुझे आपको बुलाना ही नहीं चाहिए था। हाँ, लौटते में यदि सुविधा हो सके तो दो एक दिन को अवश्य पधारियेगा।

मैंने पहले आपको लिखा था कि अपनी आत्मिक-दशा के बारे में फिर लिखूँगा, परन्तु दशा तो अभी भी मैं ठीक से पहचान नहीं पाया हूँ; इतना जानता हूँ कि ईश्वर की कृपा से दशा बहुत अच्छी है। पूज्य बाबू जी, आप मुझे पहले क्यों न मिले जिससे मैं शीघ्र उन्नति कर सकता। खैर, ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद है, जिसने

मुझे उचित एवं सहज से मार्ग पर आपके चरणों में डाल दिया है। अब तो बस एक ही लगन स्वतः ही लगी हुई है कि किसी प्रकार क्षण-प्रति क्षण मेरी आत्मिक-उन्नति होती जाए। अब तो न जाने क्या कुछ ऐसा लगता है कि बस सब मानों एक ही धार हो गया है। मैंने जो Sitting देने वाली दशा लिखी थी, तथा मानों मैं ही सब में स्थित हूँ इत्यादि ये दशायें अब मुझे अनुभव नहीं होतीं हैं। अब तो यह दशा है कि हर समय बिल्कुल खाली सा बैठा रहता हूँ। इन दिनों इच्छा-शक्ति दिनों दिन बढ़ती मालूम होती है। न जाने आज क्या हो गया कि रात को Sitting ले रहा था तो एक दृश्य दिखलाई दिया कि 'मैं और 'आप' बैठे हुए हैं। मैंने कहा कि अब तो मालिक जो चाहें मुझ से ले सकते हैं, तो आपने कहा कि अच्छा मैं तुझ से तेरा हाथ माँगता हूँ। आपका वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि मैंने तुरन्त ही तलवार से हाथ काटकर आपके अर्पण कर दिया। इस पर आप बहुत ही प्रसन्न हुए और मेरे अंतर में भी एक अजीब आनन्द लहरें मारने लगा आप तो इस दीन पर वैसे भी सदैव ही प्रसन्न एवं कृपालु हैं किन्तु मेरी आपसे केवल इतनी सी प्रार्थना है कि Tour में working के बाद आप को जो थकान व शरीर का कष्ट हो उन्हें कृपा कर मेरे में Transfer कर दें। यह बात न भूलियेगा।

आपकी दीन, हीन, संतान

.....

(पत्र संख्या ३२)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

आशा है आप आराम से पहुँच गए होंगे। न जाने क्या बात है कि वास्तव में अपनी साधना से मैं स्वयं संतुष्ट नहीं हो पाता हूँ और न होना ही चाहता हूँ। यदि रात न होती और मैं चौबीसों घंटे प्रियतम मालिक की याद कर पाता तो शायद कुछ संतोष होता।

परन्तु नहीं यह भी मेरी भूल है। साधना की Dictionary में 'संतोष' शब्द तो आना ही नहीं चाहिए। मेरी अपनी तो यही धारणा है और रहेगी कि साधनावस्था में 'संतोष' शब्द का तो ध्यान में आना बहुत बड़ी कमजोरी है। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि ऐसे ही दिन और रात रहे और मैं 'उनकी' याद में मस्त रहूँ। मेरी आत्मिक-दशा तो अब यही है कि दिन भर यही लगता है कि जैसे किसी दूसरे नये देश में आगया हूँ। यहाँ तक कि कभी कभी तो रसोईघर तक भूल कर बस भौचक्का सा खड़ा रहता हूँ, और हर बात की याद तो इस क़दर भूलता हूँ कि प्रार्थना करते करते यही भूल जाता हूँ कि किससे प्रार्थना कर रहा हूँ और क्या प्रार्थना कर रहा हूँ। सहज-मार्ग के जो दस नियम हैं उसमें लिखा है कि 'प्रार्थना ऐसी करना चाहिए कि हृदय प्रेम से भर आवे'; परन्तु यहाँ तो प्रेम से हृदय भरना तो दूर रहा, बस तबियत बिल्कुल शून्य हो जाती है। दशा मेरी पहले से अच्छी ही हो गई है। शरीर के रोग निवारणार्थ आपने जो उपाय बतलाया है उसके लिए कोशिश करूँगा यदि कुछ बस चला तो। आपने एक पत्र में मुझे लिखा था कि 'क़दम सदा आगे ही बढ़ाना चाहिए', बस यह वाक्य मेरे लिए पत्थर की लकीर है और आपसे यही प्रार्थना है कि यदि आप क़दम आगे बढ़ने में कुछ भी कमी देखें तो तुरन्त मुझे सचेत कर दें। मेरा यही प्रयत्न है कि जिस कृपालु ने इस अधम को अपना कहकर पुकार लिया है उनके नाम को कोई हँसने न पाये।

आपकी दीन, हीन, सतान

.....

(पत्र संख्या ३३)

श्री बाबू जी का उत्तर

प्रिय.....

आशीर्वाद।

पत्र मिला-पढ़कर खुशी हुई। मैं तुम्हारे साथ में भाई का बर्ताव रखना चाहता हूँ, इस लिए कि सच समर्थ सद्गुरु 'लालाजी'

की औलाद हैं और उन्हीं के सेवक। मगर पुत्र की निगाह से मैं देखता चला आया हूँ इस लिए दिल में वही भाव बनता है। तुम किसी वक्त मुमकिन है किसी ऋषि की सन्तान हो, और मोक्ष तो तुम्हारी एक बार हो चुकी है। चाभी खत्म होने के बाद फिर वापिस आना पड़ा। अब Liberation (मुक्ति) की बारी है, अगर ईश्वर दे दे। कुछ ख्याल ऐसा भी होता है कि ऋषि पतंजलि के वक्त में तुम मौजूद थे और तुम उनको जानते थे, और उनके वाक्य सिर्फ सुने सुनाये दिल में तैरा करते थे। उस जन्म के बाद तुमने योगाभ्यास भी किया था, मगर उसको पूरा न कर सके, और उसी में मोक्ष पा गये। मुमकिन है इस रिश्ते की वजह से तुम पर निगाह पुत्र की पड़ती है। इस भेद को मैं इस पत्र में खोलना नहीं चाहता, इस लिए कि लोग इस पत्र को पढ़ें तो न मालूम मेरे बारे में क्या ख्याल करें। अगर इसके जानने की ज्यादा curiosity हो तो .....से पूछ लेना। मौजूदा जन्म से पेश्तर तुम एक किसान के भोले भाले लड़के थे और चौदह साल की उम्र में तुम्हारी मृत्यु हुई। Innocent बहुत थे। यह बात मैं खत के जवाब से बाहर लिखा गया। एक बात मैं तुमको और लिखे देता हूँ और यह स्वामी विवेकानन्द जी ने भी कही है कि सिखाने वाले से जितने भी मनुष्य सीखते हैं वह खवाह उम्र में बड़े हों या छोटे सब उसकी रूहानी औलाद (Spiritual descendent) होते हैं। मगर कहीं इससे यह न समझ जाना कि मैं सिखाने वाला हूँ। सिखाने वाला कोई और है जो हम सबको सिखाता है।

अभ्यासी को सतुष्ट कभी नहीं होना चाहिए, और मालिक की याद जितनी कर सके करे। हमारा धर्म यही है कि हमें संतोष 'उसकी' याद का न आने पावे। अब यह मालिक की देन है और उसके हाथ में है कि कब संतुष्ट कर दे। जो नियम तुमने Quote किया है यह beginners के लिए है कि ऐसी हालत पैदा करें। वास्तव में प्रार्थना वही है कि जैसी तुम करते हो कि शून्य दशा पैदा हो जाए। मेरा प्याले वाला खत* देख लेना जिसको नक़ल

*'सहज मार्ग' पत्रिका के वर्ष १ अङ्क ४ में पृष्ठ ५ पर "भिक्षा का अधिकारी" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित।

.....के पास है। जब अभ्यासी का सम्बन्ध दूसरी दुनिया से जुड़ जाता है और वहाँ रहन होने लगती है तो उसको यही प्रतीत होता है कि यह मेरा घर है। मेरी भी किसी समय ऐसी हालत रही है। तुमने यह जो लिखा है कि 'मैं कभी कभी रसोईघर भी भूल जाता हूँ और भौचक्का सा रह जाता हूँ'। तुम्हारे पिता जी की ज़बान में तो इसका जवाब यह है कि तुम्हें स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण भूख ही नहीं लगती है। मेरा जवाब यह है कि भूल की अवस्था (State of forgetfulness) पैदा हो रही है। मगर इसकी इतनी ज्यादती इस हालत में हो जाना कुछ कुछ कमजोरी दिमाग़ की भी वजह है। भौचक्के से रह जाना, यह एक आध्यात्मिक हालत है जिसकी अभी शुरुआत है, पूर्णरुप में अभी नहीं आई है। मैं यह बात बताना नहीं चाहता कि पूर्णरुप में आजाने के क्या Symptoms हैं इस लिये कि यह ख्याल तुम हालत आने से पहले कहीं न बाँध बैठो। Godly-Science के खुलने की शुरुआत उसी वक्त होती है, When a man begins to wonder.

मैं अपनी रौंध में लिख गया फिर मुझे खेद पैदा हुआ कि मैंने तुमको किसान का पुत्र बतला दिया। सही बात राम जाने, मेरी समझ में आया सो मैं लिख गया। अगर बुरा मालुम हो तो क्षमा करना।

तुम्हारा शुभचिन्तक

रामचन्द्र

(पत्र सख्या ३४)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

कृपा-पत्र आपका कल मिला पढ़कर प्रसन्नता होने के बजाय न जाने क्यों दशा बिल्कुल शून्य हो गई, फिर काफी देर चुप लेटे रहने के बाद कुछ ठीक होने लगी। करीब एक घन्टे में दशा बिल्कुल ठीक आ गई परन्तु रमक आज तक आ जाती है। जब आपको पहली बार देखा था तो एकदम से ऐसा ही भाव और स्नेह आपके प्रति हुआ था जैसा कि एक पुत्र को पिता से मिलने पर होता है,

और यही मुझे प्रिय भी है। जब आपको पत्र डाला था तो दो, तीन दिन तक तबियत बिल्कुल dull रही, अब कल से ठीक हो गई है। आपने लिखा है कि "यदि तुम्हें यह जानने की curiosity हो तो पूज्य.....से पूछ लेना"। किन्तु मैं देखता हूँ कि मेरी तो सारी curiosity एक मात्र ईश्वर की ही ओर मुड़ी हुई है। अब और किसी के जानने की इच्छा नहीं रह गई है, यदि कभी हुई तो पूछ लूँगा। आगामी आत्मिक-दशा के symptoms जानने की भी मेरी अभी इच्छा नहीं है, जब मालिक की कृपा से वह दशा पूर्ण रूप में प्राप्त हो जावेगी तभी बता दीजिएगा। आपको धन्यवाद भला मैं किस प्रकार दूँ। हां, जिस चीज़ को आप हम सबको देने के लिए बेचैन हैं उसको प्राप्त कर लेने पर ही आपका धन्यवाद दे सकूँगा।

न जाने क्यों जो वाक्य पत्र में आपने स्वयं अपने हाथों से लिखे हैं उनके प्रत्येक अक्षर से पिता का स्नेह एवं Blessings मुझे मिलते मालूम पड़ते हैं और प्रत्येक वाक्य से ईश्वरीय-धारा आती हुई मालूम पड़ती है। आपने लिखा है कि "मैंने तुम्हें किसान का पुत्र लिख दिया इसका मुझे खेद है, और बुरा लगे तो क्षमा करना' कृपया इस 'क्षमा' शब्द का प्रयोग मुझ दीन के लिए आप न किया करें। क्षमा तो स्वयं मुझे आपसे माँगनी चाहिए कि महर्षि पंतजलि के समय में होने पर भी मैं मुक्ति प्राप्त न कर सका और अब आप सा सहायक स्वामी पाने पर भी शीघ्र उन्नति नहीं कर पा रहा हूँ। किसान यदि ईश्वर से रहित होता तो मुझे शायद कुछ दुःख या बुरा लगता। शेष शुभ है।

आपकी दीन, हीन, संतान

.....

पत्र संख्या ३५
'श्री बाबू जी' का उत्तर

प्रिय.....

आशीर्वाद ।

पत्र मिला, पढ़कर खुशी हुई । ईश्वर तुमको रोज़-ब-रोज़ रूहानी तरक्की देवे । मैं यह चाहता हूँ कि तुम अपनी जीवनी लिखना शुरू कर दो और जबसे तुमने ब्रह्म-विद्या सीखना शुरू की है उस तारीख तक आने पर अपनी रूहानी हालतें लिखते चलो। मेरे पास तुम्हारे सब खत मौजूद हैं जो मैं भेज दूँगा, उनमें जो हालतें लिखी हैं वह सब लिखते जाना । शुरू के बचपन के हाल तुम्हारी माता जी को सब मालूम होंगे उनसे सब पूछ लेना और अपने Spiritual-Development के लिए जो तरीक़े तुमने किये हैं वह सब लिखते जाना । अपनी माता जी से प्रणाम कहना ।

तुम्हारा शुभचिन्तक
'रामचन्द्र'

(क्रमशः)

❀ ❀ ❀

भजन

अब लौं नसानी , अब न नसैहौं ।

राम कृपा भव-निसा सिरानी , जागे फिर न डसैहौं ॥१॥
पायो नाम चारु चिंतामनि , उर-कर ते न खसैहौं ।
राम-रूप-सुचि रुचिर कसौटी , चित कंचनहिं कसैहौं ॥२॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन , निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर-पन कै 'तुलसी', रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥३॥

—तुलसीदास

'अन्तिम निश्चित सत्य' की प्राप्ति का साधन

(कुमारी सुषमा सिनहा)

मानव में 'निश्चित अन्तिम सत्य' की प्राप्ति के लिए तड़प (*Longing*) स्वाभाविक है । यह तड़प ज्ञान-पक्ष में सत्य के स्वरूप-विषयक प्रश्नों में व्यक्त होती है, किन्तु क्रिया-पक्ष में कर्त्तव्य अथवा सत्कर्म-विषयक प्रश्नों में तो इसकी अभिव्यक्ति सामान्य ही है । सत्य के स्वरूप-विषयक प्रश्नों की उपेक्षा करने का बहाना करके किसी न किसी हद तक काम चल सकता है, किन्तु कर्त्तव्य-विषयक प्रश्नों की उपेक्षा तो मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार सम्भव ही नहीं । वास्तव में सत्य के अन्तिम स्वरूप के दर्शन का अधिकार चेतना (संवित्ति) के विकास की जिस स्थिति में प्राप्त होता है उसमें प्रकृति ने स्वयं ही मानव को पहुँचा दिया है । सृष्टि का और कोई भी प्राणी इस प्रकार की तड़प अनुभव नहीं करता । यदि हम आलंकारिक भाषा का प्रयोग करें तो यही कह सकते हैं कि वह परम तत्व स्वयं अपने को समर्पित करने के लिये बेचैन है, और मनुष्य का सृजन उसने इसी लिये किया है कि उसकी यह साध पूरी हो सके ।

किन्तु यह आँख मिचौनी (*Hide and Seek*) का खेल विचित्र है । सत्य की देवी अत्यन्त ईर्ष्यालु प्रेयसी है । वह किसी भी सपत्नी को सहन नहीं कर सकती । अतः उसको पाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को कड़ा परीक्षा देनी पड़ती है । प्रेम की सबसे पहली कसौटी मौत, है अर्थात अपना कुछ भी न रह जाना । राजकुमार सिद्धार्थ प्रेम के पहले ही आक्रमण में कपिलवस्तु की सुख-समृद्धि को ठोकरी की भाँति ठुकरा कर चल दिये, फिर भी जब तक कुछ पाने की इच्छा शेष रही वह व्यर्थ शरीर सुखाते रहे; और अन्त में सत्य की देवी मुस्कराकर बोली कि यह मुझे खोजने का श्रम करने की क्या आवश्यकता ! "मुझको तू क्या ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में !" जब तक

अपने से प्रेम है तभी तक तृष्णा आदि क्लेश हैं, जो बन्धन का कारण होते हैं। प्रियतम से वास्तविक प्रेम उत्पन्न होते ही उसका समर्पण आरम्भ हो जाता है। मानव-नामधारी प्राणी में कभी न कभी इसी लिये वह स्वयं ही प्रश्नों के रूप में अपने प्रति तड़प पैदा करता है। किन्तु उससे वास्तविक प्रेम करने का साहस कोई बिरला ही करता है।

आलंकारिक भाषाको अलग छोड़ कर यदि हम यथार्थ मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करें तो भी निश्चित सत्य की प्राप्ति के साधन के रूप में 'प्रेम' अथवा 'आत्म-विस्मृति की सीमा तक पहुँची हुई लगन' का महत्व स्वीकार करना होगा। सत्कर्म-विषयक मानसिक संघर्ष का मूल व्यक्तित्व का अपूर्ण सगठन है। हमारी विभिन्न आवश्यकतायें जो बहुधा परस्पर विरोधी होती हैं एक ही समय अपनी पूर्ति की माँग करने लगती हैं और इनका बल जितना ही अधिक परिमाण में एक दूसरे के समान होता है, मानसिक संघर्ष में उतनी ही अधिक तीव्रता आ जाती है। किसी आवश्यकता की सबलता उसके साथ हमारे व्यक्तित्व की समष्टि के तादात्म्य के परिमाण द्वारा निर्धारित होती है। सामान्य नागरिक के लिये स्वास्थ्यवर्धक एव सुस्वादयुक्त भोजन तथा पर्याप्त वस्त्र का महत्व होता है किन्तु नैमिषारण्य में अपने इष्टदेव के दर्शन लाभ करने की इच्छा से दिन भर पेड़ की छाया में और रात को एक बिवर में नंगे पड़े रहने वाले साधु के लिए उनका कोई महत्व नहीं रह जाता। नन्हें बालक के लिए एक टाफी, एक खिलौना, एक आवेग की तृप्ति का इतना महत्व होता है कि उनकी अव्यवहित प्राप्ति में तनिक भी बाधा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को क्षुब्ध कर देती है। धीरे-धीरे जीवन का अधिक व्यापक चित्र उसके सामने आने लगता है और उसके आवेगों का संघटन वृहत्तर लक्ष्यों के चारों ओर होने लगता है। माता की प्रसन्नता (सस्तुति) प्राप्त करने के लिये टाफी और खिलौना छोटे भाई को दे देता है, उसे मारने के लिये उठा हाथ नीचा कर लेता है। वृहत्तर लक्ष्य उत्पन्न होते ही अनेक आवेग अपनी शक्ति स्वय खो बैठते हैं।

मैक्डूगल की पारिभाषिक शब्दावलि में व्यक्तित्व के विकास की इस स्थिति को स्थाई—भावों (*Sentiments*) के निर्माण की अवस्था कहेंगे। धीरे-धीरे स्थाई भावों का भी संघटन किसी वृहत्तर लक्ष्य के चारों ओर हो जाता है, और व्यक्तित्व की समस्त क्रिया एक ही दिशा में उद्दिष्ट हो जाती है। इस प्रकार का स्थाई भावों का संघटन हो जाने पर भावों का वेग हमें विभिन्न दिशाओं में नहीं खींचता। व्यक्तित्व की समस्त शक्तियाँ एक वृहत्तम लक्ष्य के अन्तर्गत संकलित हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में जिस विशिष्ट लक्ष्य के प्रति हम में अनन्य प्रेम पैदा हो जाता है उसकी प्राप्ति जीवन की सार्थकता के प्रत्यय के साथ सम्बद्ध हो जाती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक यथार्थ की दृष्टि से प्रेम की अनन्यता मानसिक संघर्ष के क्षय और संघटित व्यक्तित्व के अर्जन का एक मात्र साधन है।

किन्तु मानसिक संघर्ष के इस अर्थ में क्षय द्वारा प्राप्त 'निश्चित सत्य' वैयक्तिक ही होगा। अतः उसे 'अन्तिम सत्य' नहीं कहा जा सकता। वास्तविक सत्य तो निर्वैयक्तिक ही हो सकता है। उपर्युक्त अर्थ में मानसिक संघर्ष का क्षय तो एक नृशंस डाकू भी प्राप्त कर लेता है, उसे कई मार्गों में से एक मार्ग का वरण कर लेने में तनिक भी द्विधा अथवा संशय का सामना नहीं करना पड़ता, क्यों कि उसके व्यक्तित्व की समस्त संचालक शक्तियाँ एक विशिष्ट लक्ष्य के अन्तर्गत संकलित हो जाती हैं। इस अर्थ में सुसंघटित व्यक्तित्व राम की अपेक्षा रावण का अधिक है। महाभारत में चित्रित कृष्ण और दुर्योधन दोनों के ही चरित्र ऐसे हैं जिनमें मानसिक संघर्ष के लिये तनिक भी स्थान नहीं। किन्तु इन व्यक्तियों के लिए अलग अलग जो कुछ 'निश्चित सत्य' है उसमें भी संघर्ष पाया जाता है। अतः निश्चित सत्य पर ही रुक जाना उचित नहीं होगा। 'अन्तिम सत्य' का प्रश्न प्रत्येक ईमानदार विचारक के समक्ष कभी न कभी आ उपस्थित होना अनिवार्य है।

वास्तव में व्यक्तित्व का संघटन प्राप्त करने की विधि प्रेम की अनन्यता ही है। किन्तु रावण और दुर्योधन के चरित्र संघटन के मूल में स्थित प्रेम का केन्द्र बिन्दु वह स्वयं हैं। इसे प्रेम की अपेक्षा प्रेम की विकृति कहना अधिक उचित होगा। प्रेम का तो स्वरूप ही परार्थपर है। स्वार्थपरता और प्रेम परस्पर व्याघातक हैं।

स्वार्थों की समिद्धि के निमित्त से जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसे समझौता या संधि (*Contract*) ही कहा जा सकता है, प्रेम नहीं। प्रेम में तो दान और त्याग की ही प्रधानता रहती है। जहाँ कोई भी माँग अवशिष्ट रह जाये, वहाँ प्रेम की परिपक्वता का अभाव घोषित करने में तनिक भी सोच – विचार की आवश्यकता नहीं। कबीर के शब्दों में :—

"अजबहिं सौदा प्रेम का, जो सिर दे लै जाय"

सघटित चरित्र के आदर्श को निर्धारित करते समय भारतीय मनीषियों ने प्रेम के इसी स्वरूप को चरित्र–संघटन–विधि के रूप में निरन्तर प्रतिष्ठित किया है। राम के चरित्र पर सीता–परित्याग के सम्बन्ध में यही आक्षेप किया जाता है कि उन्हों ने अपनी कीर्त्ति की वेदी पर सीता की बलि चढ़ा दी। इस आक्षेप का उत्तर देने का प्रयास–उदाहरणार्थ भवभूति के उत्तर–राम–चरित' में— भी प्रेम के इसी उदात्त, त्यागमय स्वरूप का आधार लेकर किया गया है, कि सीता राम से अभिन्न थीं, और उनका परित्याग वास्तव में जन–श्रुति की वेदी पर राम का अपना बलिदान था। 'अहं' के नितांत अभाव को सर्वोत्कृष्ट प्रेम की कसौटी के रूप में स्वीकार करना और इस अर्थ में प्रेम को आदर्श–चरित्र–सघटन की आधार शिला मानना भारतीय संस्कृति का प्राण है।

अतः यह सुस्पष्ट है कि अन्तिम रूप से निश्चित सत्य का साक्षात्कार वही व्यक्ति करता है जो अपने से नहीं किन्तु उसी 'अन्तिम सत्य' से प्रेम करता है, यहाँ तक कि उसमें आत्म–संवित्ति का लेश–मात्र भी अवशिष्ट नहीं रह जाता।

यह आत्म–संवित्ति भी विचित्र वस्तु है। मानव की यह सब से बड़ी निधि है। इसी के कारण अन्य प्राणियों से उसकी विशिष्टता है। किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप या दूसरे शब्दों में 'निश्चित अन्तिम सत्य' का साक्षात्कार करने में यही सबसे बड़ी बाधा है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण की लम्बी चिकित्सा–पद्धति का लक्ष्य यही है कि रोगी जिन स्थायी–भाव ग्रंथियों का अपने व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य कर लेता है, उनके विकास और उपयोगिता का विश्लेषण

करके अपने को उनके बन्धन से मुक्त कर ले। यह पद्धति विबोध (*Reason*) के महत्व पर बल देती है और उसकी सहायता से उन्हें व्यक्तित्व के चेतन स्तर पर लाकर खोलने का प्रयास किया जाता है। यह पद्धति अत्यन्त जटिल है और इसे प्रयोग करने वाले चिकित्सक अब अधिकाधिक यह अनुभव कर रहे हैं कि प्रत्येक प्रकार के व्यक्तित्व का पुनर्संघटन इस विधि द्वारा सम्भव नहीं हो पाता।

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने क्लेशों अर्थात् भव–रोगों से मुक्ति का मार्ग निर्धारित करने में विबोध की अपेक्षा 'प्रेम' की सहायता लेना अधिक श्रेष्ठ माना है। विबोध का सहारा लिया जा सकता है किन्तु वह मार्ग दुरूह है। इसके अतिरिक्त विबोध अथवा ज्ञान मार्ग के पथिक को भी सफलता तभी मिलती है जब अपने लक्ष्य के प्रति उसमें अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है, जो वास्तविक ज्ञान होते ही अनिवार्यतः उत्पन्न हो जायेगा। प्रेम अर्थात् भक्ति का मार्ग सरल है क्योंकि एक लक्ष्य के प्रति प्रेम की दृढ़ता जितनी ही बढ़ती जाती है अन्य लक्ष्यों के प्रति आसक्ति उतनी ही घटती जाती है और उस आसक्ति से उत्पन्न क्लेश और बन्धन अपने आप ही समाप्त हो जाते हैं। अतः 'अन्तिम सत्य' को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय यही है कि उसके प्रति अनन्य प्रेम पैदा हो जाये।

प्रेम पैदा होना निःसंदेह आसान नहीं। प्रेम पैदा करने से पैदा नहीं होता और मिटाने का प्रयास करने से मिटता नहीं :—

"इश्क़ पर ज़ोर नहीं, है ये वो आतश 'ग़ालिब'
कि लगाये न लगे, और बुझाये न बने"

अतः जिसे 'अन्तिम सत्य' के प्रति प्रेम हो ही नहीं, वह बलात् उसे पैदा नहीं कर सकता। किन्तु जिस हृदय में अन्तिम सत्य के विषय में प्रश्न पैदा होने लगें, उसमें उसके प्रति प्रेम का बीज तो मौजूद समझना ही चाहिये। अब उस बीज को स्वार्थपरायणता अर्थात् अहं भाव की लपट में भून डालना या उसे बार बार याद करके मीरा की भाँति विह्वलता के जल से सींच सींच कर सुविकसित पौधे में परिणत करना अपने बस की बात है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, 'अन्तिम–सत्य' तो मानव–मात्र के हृदय में अपने प्रति

प्रेम कभी न कभी पैदा करता ही है, कारण उसे प्रेमी चाहिये जिसे वह अपने को समर्पित कर दे। वास्तविकता तो यह है कि उसे बिना मोल ही खरीदने वाला कोई नहीं मिलता। लोगों को अपनी ओर ही देखने से फुर्सत नहीं। उसकी ओर आँख उठाकर देखने भर की देर है। वह तो स्वयं ही आपके पास आने के लिये बेचैन है।

'अन्तिम सत्य' को लोग बहुधा दूसरों से पूछकर या पुस्तकों में पढ़कर जानना चाहते हैं और अपने इस प्रयास में विफल होने पर उन्हें निराशा होती है। वास्तव में 'अन्तिम सत्य' सूचना का नहीं किन्तु साक्षात्कार का विषय है। अध्यापक और पुस्तकें उसके प्रति उत्सुकता की वृद्धि मात्र अवश्य कर सकते हैं, किन्तु उसे शब्दों में बाँध कर किसी के हवाले नहीं कर सकते। इस विषय में यह अक्षरश: सत्य है कि बिना अपने मरे स्वर्ग दिखाई नहीं दे सकता। अन्तिम सत्य का ज्ञान अन्य प्रकार के ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि यह ज्ञान व्यक्ति को आमूल बदल डालता है। यह 'जानना' मात्र नहीं किन्तु साथ ही साथ 'होना' भी है। तुलसी के शब्दों मे :—

"जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।"

पथप्रदर्शक की आवश्यकता निःसन्देह होती है, यद्यपि चलना स्वयं ही पड़ता है। पथ-प्रदर्शक ऐसा होना चाहिये जो स्वय 'अन्तिम सत्य' का साक्षात्कार कर चुका हो, क्योंकि जो जहाँ तक गया है वहीं तक का पथ--प्रदर्शन कर सकता है। उसके बाद अधा अँधेरे में दूसरे अंधे को रास्ता दिखाने का बहाना मात्र करेगा। अत: पथ-प्रदर्शक का वरण करने में जल्दबाजी करने की कोई आवश्यकता नहीं। सच्ची लगन वालों को पथ प्रदर्शक समय पर मिलकर ही रहेगा यह आश्वासन इस मार्ग पर चलने वालों ने लगातार दिया है। सच्चे पथ-प्रदर्शक की पहचान बस यही है कि वह स्वय मिट चुका हो अर्थात् उसका अपना स्वर्थ लेश-मात्र भी न रह गया हो।

'अत: अन्तिम सत्य' की खोज करने वाले के वास्तविक साथी बस यही हैं :— प्रेम की अनन्यता, साहस, अटल-विश्वास एव धैर्य। इस पथ के सर्वश्रेष्ठ पथिक और पथ--प्रदर्शक—गीता के गायक-का आश्वासन सदैव साथ रहना चहिए :—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

पथिक

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

स्मृति लौटी। सिर चकराने लगा। ऊपर देखा तो कोई हाथ फैलाये संकेत कर रहा था।

चेतना लौटी, विचारों से विजय पाई बुद्धि लौट आई। राज-पथ पुन: चालित हुआ। एक आता था और एक जाता था। कोई त्यागी वैरागी था, कोई उदासीन मृत-वत था। परन्तु सब सबसे पृथक थे। कोई किसी से बोलता तक न था।

क्यों ?

विलम्ब हो जाने का भय था। दृष्टि तो कहीं दूर क्षितिज को भेदन करके कुछ ढूँढ़ रही थी। वह चौंक चौंक पड़ता था।

कारण ?

किसी का मधुर, सुखद स्पर्श पाकर! और यही था उसके पगों में गति प्रदान करने वाला एव निरंतर चलाने वाला।

एकाएक वह ठिठक गया। आगे मार्ग न मिलता था। चढ़ाई ऊँची थी। स्वत: प्रयत्न निष्फल होते थे। गति जवाब दे चुकी थी। परन्तु यह क्या ?

एकाएक मार्ग दृष्टि-गोचर हुआ। वही मधुर स्पर्श शीश पर था। पगों में गति आगई और वे आगे बढ़ने लगे।

देखा वहाँ प्रेम का सुखद-सिन्धु था।

वह प्यासा था ही, मुँह लगा दिया और देखते ही देखते वह गट कर गया। बिन्दु में सिन्धु समा गया परन्तु अभी विश्राम कहाँ। वह एक एक स्थान देख देखकर चलने लगा क्योंकि चढ़ाई ऊँची थी।

पहली ही सीढ़ी चढ़ पाया था। कितने आनन्द का साम्राज्य था। मन विभोर हो हो उठता था फिर भी हाय खाये लेती थी। वह बड़-बड़ा उठता था:—

"पकरि करेजौ आपनो हाय खाय ले बीर,
बिन प्रीतम क्यों जीवना घुनगौ सकल शरीर" ॥

सम्भवत: इसी लिये वह आगे बढ़ना जाता था ।

एकाएक गति पुन: क्षीण हुई ।

किन्तु मधुर स्पर्श ।

वह पुन: अग्रसर होने लगा । दूसरी सीढ़ी पार कर रहा था । किसी ने करुणावश कुछ दिया तो खा लिया किन्तु होश न था । मुँह में कौर था किन्तु ज्ञान न था कि चबाये, थूके या मुख में रहने दे । सम्भव है कि अवधूता वस्था के वस्त्र से ही शरीर ढका हुआ था । फिर भी 'मालिक' की कृपा, पूर्ण चेतना को लुप्त होने से रक्षा करती थी । अब देखते ही देखते तीसरी सीढ़ी आगई । उसी पर वह चल रहा था । जीना भी ऐसा था कि जिसकी एक सीढ़ी दूसरी से दुगुनी चौड़ी मिलती थी । परन्तु वह तो बाह्य-नेत्रों को प्राय: बन्द करके आँतरिक--नेत्रों की निर्मल-ज्योति के आधार पर चलता ही चला जाता था ।

क्यों ?

उसे पहुँचना ही था । अब न सार्व जनिक से पर्दा था और न पृथकता ही थी । मानों मुर्दा भी मर चुका था ।

वह यह सीढ़ी भी पार करके बैठकर सुस्ताने लगा कि कुछ आँखें लग गईं । अचानक किसी की कृपा-शक्ति का झटका लगा । आँखें खोलकर देखा तो पाया कि सादगी से भी सरल एवं शुद्धता से भी शुद्ध एक मैदान सा सामने था । ऐसा लगता था कि मानों वह प्रभु के हल्के तथा शुद्ध हृदय में तैरता चला जा रहा था तथा 'उसके' ही हृदय-रूपी मैदान में खेलता खाता चला जाता था । मस्त था, कोई फ़िक्र न थी क्योंकि मैदान पार करते ही अपना वतन दिखाई पड़ रहा था ।

एकाएक वह बोल उठा । "अरे वह देखो चटियल मैदान आ गया ।" .

किसी ने पूछा, "यह चटियल मैदान क्या है" ?

"अच्छा सुनो ! कदाचित तुमने आध्यात्मिकता का नाम सुना होगा यह उसी का साम्राज्य है ।"

अब तो झाड़ झंखाड़ साफ हो चुके थे इसलिये पग संभाल कर रखने की आवश्यकता न थी । न मालूम किसी की सुमधुर याद में वह भागने लगा कि एक ध्वनि सुनाई पड़ी । "इतनी शीघ्रता से क्यों भागे जा रहे हो पथिक ?"

"अपना सौदा करने ।"

"ऐसा सौदा कौन करेगा ?"

"जो ग्राहक की बाट जोह रहा है ।"

वह पुन: अग्रसर होने लगा । पाँच सीढ़ी चढ़ चुका था किन्तु चैन न पड़ता था । विकल हो उठता था ।

किसी ने पुन: प्रश्न किया, "पथिक कहाँ चले ?"

उत्तर मिला "वतन की ओर" ।

परन्तु बेचारा ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जा रहा है स्मरण-शक्ति क्षीण पड़ती जाती है । नेत्रों की ज्योति धुँधली पड़ती जाती है । हाथ को हाथ नहीं सूझता है । बरबस मुखसे निकल पड़ता है: अब तो प्रभु:—

"बिना भक्ति तारो, तब तारिबो तिहारो है" ।

एकाएक किसी ने पुन: वही प्रश्न दुहराया ।

"पथिक कहाँ चले ?"

परन्तु उत्तर न मिला ।

"क्या चाहते हो ?"

"मालूम नहीं ।"

"तुम तो *Realization* चाहते थे ?"

एक छोटा सा 'हाँ' उत्तर मिला ।

"किसका ?"

"पता नहीं, ईश्वर का, अपना या सद्गुरु का ।"

"भाई, पथिक स्वयं विस्मित है कि कहाँ जाना है । किन्तु जाना है, क्यों कि अनन्त के पार भी कोई शक्ति, कोई आकर्षण मुझे खींच रहा है ।"

"कैसे जाओगे ? आगे न प्रकाश दिखलाई पड़ता है न मार्ग ! फिर कैसे जाओगे ?"

"जाऊँगा; उसी आकर्षण के सहारे । वही प्रकाश है और वही उससे प्रकाशित सहज-मार्ग बस वही मेरे नेत्रों की ज्योति है ।"

ब्रह्मस्तवनम्

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

—श्री मद्भागवत

[जिस से अन्वय और उस से भिन्न प्रक्रिया द्वारा आद्य सत्ता का आरम्भ हुआ है ;
जो समस्त विषयों का जानने वाला, और स्वप्रकाश है ;
जिसने अपने हृदय (केन्द्र) से ही आदि कवि (सृष्टा) के लिए ब्रह्म का विस्तार किया ;
जिस के विषय में विद्वान् (मनीषी) व्यामोहित होते हैं ;
जहाँ त्रिगुणात्मक सृष्टि अग्नि, जल और मिट्टी के पारस्परिक विनिमय–(घटादि)—की भाँति माया रूप से विद्यमान् है—
अपने प्रकाश द्वारा सदैव कुहासे का निरसन करने वाले—
उस परम् सत्य का हम ध्यान करें ।]

[From whom has arisen the original Existence through the process of prositivation and that which is different from it ;
Who is omniscient and self-luminous ;
Who extended the Ultimate Reality from Its very heart (centre) for the primal poet (creator) ;
Whom the sages are too bewildered to grasp ;
Where the threefold unreal creation really exists–
Like the intercourse of earth, water and fire –(in the form of things like jar etc.) ;
Who always dispels the fog by Its own light—
May That Supreme Truth be the object of our meditation]

—❀—

Our Present State & Our Duty

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R C. M.)

If I see the world I find it very troublesome. Some are groaning with pain, a few are suffering the loss of their dear ones and a great number is anxious to see success at each step. Some ar doubt rejoicing at their luck and wealth; but even the wealthy persons find themselves greatly troubled under the pressure of hoarding more wealth than what they have got already, and there is no limit to it. There are instances of the wealthier persons of the world suffering from insomnia on account of the anxiety they have got.
If you see the animal life you will find them troubled. Young ones of the fishes are in danger of being devoured by the big fishes. A few birds fall prey to the falcons, flies are eaten away by the birds, lizards eat the insects and so on. Now two chains are running. One for the destruction of each other and the other for eating the vitals. To my view one who is born here is in tumult & disorder because the contradictions as we come down present themselves and one is so much attached to them that one is found fast bound in the trammels. If you tell him to get it loosened he will cry like a person tied in the tree saying that the tree does not leave him. In the 'Mahabharat' Yudhistra was asked many questions by Daksha on the bank of some river. One of them was 'What

is the strange thing in the world ?' Raja Yudhistra correctly replied that the people see the men dying but they do not think that they will have to taste the same in the end. In the present atmosphere if one asks me the same question I would say in its reply that the people see their own disorder and still they are sleeping on unbalanced pillow. I might be an example to that if I would have written this letter to you twenty two years before this date when my pillow was rugged but covered with white sheet. Raja Bhartari when awakened to the Godly thought, put pillow under his head to rest. After a short time he came to know that it would not serve the purpose and he must leave the pillow aside. (Pillow means तकिया and तकिया means भरोसा). That was the last thing for his comfort and he has thrown it away. What then remains for him now ? Reliance on God alone. Now he came on the point of renunciation. He bade farewell to everything & became in toto dependent on God. After experiencing the taste of penance, it was surely in his power to return back to his kingdom but he had not done so. This shows that he found himself more peaceful in that life of religious mendicancy. Now he was free from all worldly desires. Riches had no value to him. Is it not the life worth having for if it can be had in Grahasth Ashram ? One is performing the household duties and at the same time is busy equally to the Godly devotion. You may say that these two things are impossible and are contradictory to each other, but it is not the case. In the long run Godly wisdom begins to work

and one does his duty from the mind beyond, prvided one starts. One cannot be a loser in any way, if, doing his household duties, he brings him up to the realisation of God as well. Do you like this thing that both of your wings may be stronger and you may soar like that of a swan for which it is said that it drinks the water of Mansarover and it is for it only. Really speaking if I see a man hubble and bubble, topsyturvy and distracted, he may feel it or not, I feel it very much. What can I do for him except praying to God that his mental peace may not be distracted and disturbed. I do this kind of duty myself but I want to prepare men for this duty for the others. That is why such a lengthy letter to you.

—From a letter to an Abhysi

× × × × +

Life of My Life !

Life of my life ! soul of my inmost soul !
Pure central point of everlasting light !
Creative splendour ! Fountain-head and goal
Of all the rays that make the darkness bright—
And pierce the gloom of nothing more and more
And win new realms from the abyss of night !
O God, I veil my eyes and kneel before
Thy shrine of love and tremble and adore.

—E. G. A. Holmes

Philosophy or What ?

(Shri Raghavendra Rao)

The meaning of philosophy has taken different forms at different times. Of course it is love of wisdom. But what does wisdom mean ? Is this "love of wisdom" a monopoly of certain gifted individuals ? Is not every man a lover of wisdom ? Or else, does not everyone at least feel that he is a lover of wisdom ?

Some highbrows have appropriated Philosophy for themselves. Not only this, but when they found that technical and scientific knowledge was increasing and moving fast at an amazing speed and found themselves at a loss to cope up with this advancement they began to separate themselves from Physics, Chemistry, Biology, Mathematics etc. Again the "philosophers" started to run away from history, sociology, politics and even psychology, morals and religion too. Then what is philosophy, if it is not this and not this ? There was a time when it included all these and even fine arts too.

So, now let the philosophers be frank and admit defeat. Or else, let them declare that they do not know what they want, and so say goodbye to their intellectual hankering after.....nothing. Once this is done, we may start afresh with an open heart and a clean slate.

First let us fix our aim. We are groping in

utter darkness. We are thirsty to our core. Sensc of safe standing is lost. So we must have firm ground and strong support; we must get fresh water, breathe fresh air by renouncing all foul air and get Light to dispel the darkness. These are our first and immediate necessities. Our next look out would be to establish ourselves permanently in such a state. We need not bother to establish in a flawless logic the meanings and definitions of firm ground, fresh water, air, and light by coining high sounding words, similes, metaphors and other complications of philosophic technical terms and thus to lose sight of our aim. Everyone automatically feels what they are because of the necessity. so having felt the necessity and having fixed the aim let us at once think of the ways and means to achieve the goal.

When we have seen that our goal is so simple we must realise that the means to attain that goal must necessarily be likewise. On a closer examination of our goal we come to the conclusion that it is just a condition or a state which we have to ecpuire and live in it constantly. So, let us resolve and determine at once that we shall have it. Iron will will carry us half the way at the first stroke itself. Now let us make our hearts empty and think of only our goal over and over again.

It is a known fact that even the smallest particle has got tremendous energy. The only difficulty in utilising this energy is in its proper control and in getting a suitable channel to make

it flow through. When we empty our heart and think of our goal this latent energy is brought into action. Because of the purity of heart there is proper control over it and because of our thought directed towards our goal a suitable channel is made for it to flow. If the thought is directed upwards the energy flows upwards and if it is directed downwards the energy will flow downwards.

Now, the philosophers belonging to the schools of mysticism may decry the above method as gross materialism and the scientists may scorn at it as mystic spiritualism. But my request to the mystics is that they should become scientists and to the scientists that they should take up the practice and verify its truth.

To take up the practice which involves the use of this tremendous energy which is latent, is a risky job which even our scientist friends will readily agree. For that we have to seek an adept in this art and do the experiment under his guidance.

Let us again turn towards our aim. We have seen that we require Light, Air, Water and Ground and we want to abide in that state permanently. Here again let us not be confused by the play of our senses which are normally turned outwards and which are deaf and dumb to one another. So, it is not the eye only which requires Light but it is our whole being which requires Light, the Divine Light which is Existence, Consciousness, and Bliss. The Divine Light itself is the Air which we have to

breathe, the water which we have to drink and the ground which we have to stand upon. This is All pervading. This is Life itself. Similarly Air is the All-pervasive Life and even so Water and Ground. Of course it is very difficult for us to catch the Spirit at the outset, nevertheless an inkling of it can be had if we go to such a person who has traversed the entire distance and who is permanently abiding in that state. If we take such a one as the Support we automatically get the Divine Light and feel the Divine Air and drink the Divine Water; as we realise that He is all these. When this is attained philosophy gets its satisfaction, science finds its culmination, religion finds its realization and the mystery is solved in a mysterious manner.

× × × ×

In a gathering of Abhyasis, people were discussing the qualities of a real Master. Many suggestions were made, but all of them required a prolonged touch with the person concerned.

The Master gave a simple test, applicable from the very first moment of contact with the Master onwards: "The end of Yogic Sadhana is the cessation of the movements of mind (Citta Vrittis). If on coming into contact with a saint, a seeker after Reality feels a lull in his Citta Vrittis, he has found the Master."

●

Synthetic Outlook
OF THE
Hindu view of life

(Shri Sarabjit Singh M. A.)

In his book "Hindu Ethics" Professor Mackenzie holds that the ethics of India is defective, illogical and anti - social lacking the sense of philosophical foundation. It is nullified by abhorrent ideas of asceticism and ritualism. It is altogether inferior to the "higher spirituality" of Europe. Though he admits that the Hindus favour some virtues such as liberality and hospitality, yet he emphasises that these virtues are of savage origin. When properly interpreted they reveal themselves as based on narrow selfishness. and superstition. He dares to the extent of saying that if historically interpreted they would appear to be surviving vices rather than honest virtues. What troubles Mackenzie most is that Hindu Ethics is anti - social. He devotes most of his book to upholding this thesis and comes to conclude that Hindu philosophical ideas "When logically applied leave no room for ethics." A keen student of Hindu culture will not fail to indicate the fallacy vitiating the observation of Prof. Mackenzie. His view suffers from 'preconceived expectation'. Implicit in his judgment is that a morality which is not strenuous is not a true morality. One is not really moral unless engaged in

active social service. Mr. Hopkins. in his book "Ethics of India" offers a protest against a too logical interpretation of historical fact. He doubts whether logic and philosophy are so vital in evaluating Ethics as Prof. Mackenzie thinks them to be. Mr. Hopkins holds that even if the Hindus followed no safe ratiocinative process in being virtuous the fact that they were schooled to be so doubles the merit of Hindu Ethics.

The objective of this paper is to refute such wrong notions which take an altogether wrong view of the ethical tradition of the Hindus. In my endeavour to take out Hindu Ethics from all fog and mists of misunderstanding I am struck by the concept of purushartha in Hindu way of life. By Hindus the purpose of life "man's end" or "raison d'etre" is defined in a fourfold way. The purposes of life are the satisfaction of desire (Kama), the pursuit of values (Artha), and the fulfilment of function (Dharma), in the sense of duty. The final end, in this sense the whole purpose of life, is to attain liberation (Moksa) from all wanting, valuation and responsibilities. These immediate and final ends are organised in a gradation. But they must not be thought of as independent of or fundamentally opposed to one another. The final end of liberation is, nevertheless, in a manner contrasted with the three categories of purpose proper to the active life. This contrast is made all the more obvious in the fact that it is recognised both that a man has binding social responsibilities and that he can have

done with these responsibilities once and for all. Provision is made, therefore, both for the life of the householder who practises a trade, and for the life of poverty, that of the mendicant sannyasi.

These two ways of life in the world and apart from it have been aptly called the "ordinary" and the "extraordinary" norms of the cultural pattern by Franklin Edgerton in his work "Dominant Ideas in the formation of Indian Culture". It is with the view to the fulfilment of both lines that the institutions of 'varnashrama' developed. Here one comes to the conclusion that the Ethics of the Hindus is based upon a three--fold scheme of the spiritual life comprising the stages of sociality, subjective morality and the life absolute and transcendental. Hindu Ethics is thus social Ethics and psychological ethics and culminates in the philosophy of the Absolute which is the consummation of spiritual life. The social aspect of Hindu Ethics is represented in a scheme of varnashramadharma i. e. duties relative to one's varna or social class and one's asrama or specific stage in spiritual discipline. "The duties of varna and asrama together constitute the code of relative duties, the duties of station in life, the duties obligatory on the individual in consequence of social status, temperament, specific powers and capacities." (S. K. Maitra) The varnas hramadharmas representing a code of relative duties constitute the relativistic ethics of the Hindus. It takes into consideration the morality of the society as well as that of the

individual. It, thus represents a fuller and more comprehensive view of life than the Platonic ethics with its one-sided emphasis on sociality. The basis of the classification of ashramas is the genetic view of moral life and the importance is psychological as well as ethical.

The varnashramadharmas constitute the sphere of the hypothetical imperative. But this does not mean that they are conditional on a subjective choice of the individual. On the contrary they are all obligatory without condition in their respective sphere. Thus the duties of the Brahmin are obligatory without condition on whoever is a Brahmin and the duties of the married life on whoever has married and has a family. These relative duties, however, do not constitute the entire field of the moral life. Besides these Indian culture has established a code of common duties (Sadharana dharmas) which are imperative for all. These are the duties of universal scope and validity. The theme suggested through these two types of duties are good of the community and the common good of the humanity. It is obvious that this view of the Hindu Ethics is a very comprehensive view. Promoting the good of the community it does not hinder in any way the good of the whole humanity.

The two types of duties discussed above in the words of Mr. S. K. Maitra constitute what is known as the objective morality of the Hindus-morality as represented in a code of external acts

and requiring outward conformity. But objective morality is not sufficient by itself, and it is necessary that the individual after a period of discipline should look into himself. This aspect of Hindu Ethies brings us to what is called as subjective purity tor inner excellence of the will. This constitutes the subjective morality and gives us the psychological Ethics of the Hindus. It is assumed that Cittashudhi or purification of the mind is an indispensable condition for the high stages of moral life. This stage of morality is also not the final stage of the spiritual life. It is but a preparation to the highest stage known as liberation or Moksha. It is still a means to an end. Sociality as well as subjective morality must be merged in the end thereby either to be transcended or to reappear in a new light & charged with absolute significance. This is the main import of Patanjali's yoga or, Shankaras view on Moksha, Ramanuja's doctrine of Bhakti and the Budhist theory of Nirvana. Mostly all agree in recognising the transcendental as the limit of empirical life, the timeless as the truth of all that is in time. This timeless transcendental life is therefore, the culminating stage of the spirit. It is for this stage that Browning has pined so much:-

" Grow old along with me !
The best is yet to be,
The last of life, for which the first was made :
Our times are in His hand
Who ligith 'A whole I planned,
Youth shows but half; trust God : see

all nor be afraid"
(Rabbi Ben Ezra)

It is of this life of the spirit that Wordsworth speaks in the following lines:–

.....; that blessed mood,
In which the burthen of the mystery,
In which the heavy and the weary weight
of all this unintelligible world,
Is lightened:–that serene and blessed mood'

(Tantern Abbey)

The state is a state of hormony and could be attained only after one has undergone the duties of the first two stages i. e. sociality and subjective morality. It is only after performing all social obligations that this stage is attained. It is really surprising how Mr. Mackenzie could not appreciate the comprehensive view of Hindu Ethics, which is reflected everywhere in the pages of the cultural history of India. The conception of realising life as a whole constitutes the central philosophy of the doctrine of Karmayoga tought by Krishna, in the Bhagavad Gita. Giving emphasis on the concept of social obligation as the core of Indian life Dr. Anand K. coomaraswamy says, "Krishna himself, who has nothing whatever to gain by any working nevertheless "worketh still" to keep the world & all its children in being..... .....so ought men to work for the preservation of their own lives and of society." If one views the philosophical foundation of the Karmayoga of the Gita which has been

the guiding factor of the lives of many, one will charge Mr. Mackenzie of not understanding the Hindu way of life at all. The significance of the Gita lies in discovering the golden mean between the two extreme ideals of pravrtti and nivrtti, or of action and contemplation. Karmayoga does not abandon activity, yet it preserves the spirit of renunciation. It commends a strenuous life, and yet gives no room for the play of selfish impulses. By emphasising the concept of svadharma the Gita lays stress on social obligation. Backed by the doctrine of Nishkam Karma, the Gita ethics not only becomes social, but also establishes a philosophical foundation which is seldom found at the back bone of any system of ethics in whole human cvilisation.

A keen student of moral philosophy would now come to a natural conclusion that the contentions of Professor Mackenzie are faulty. His standpoint misrepresents the fact. One of the possible causes fundamentally which might have blinded Mr. Mackenzie is the two different standpoints. The Indian view of life is view of totality. It is a synthetical standpoint, whereas the western tendency is analytical. To evaluate what is synthetical on the measuring rod of analysis is a fallacy to which no genuine branch of knowledge gives any concession. The Hindu Ethics of India remains social inspite of Mr. Mackenzie. Indian view has never been a piecemeal view. It has ever been a total

view of the whole. That is why it disappoints those intoxicated with parts. We can row safely well conclude our essay in the words of the expert Indologist, the late Sir George Birdwood, who said "In that (Hindu) life all are but coördinate parts of one undivided and indivisible whole, wherein the provision & respectdue to every individual are enforced under the highest religious sanctions and every office and calling perpetuated from father to son by those cardinal obligations of caste on which the whole hierarchy of Hinduism hinges .....we trace there the bright out lines of a self-contained, self-dependent, symmetrical and perfectly harmonious industrial economy deeply rooted in the popular conviction of its divine character, and protected, through every political and commercial vicissitude, by the absolute power and marvellous wisdom and lack of the Brahmanical priesthood. Such an ideal order we should have held impossible of realisation, but that it continues to exist and to afford us, in the yet living results of its daily operation in India is a proof of the superiority, in so many suspected ways of the hieratic civilisation of antiquity over the secular, joyless insane and self destructive modern civilisation of the west."

The Explanation of the Imagination of Purification

(Dr.K. C. VARADACHARI M. A., Ph. D.)

Sri Ramchandraji has instructed that an abhyasi can usefully imagine that purification of the entire nature is being performed by the Highest Spiritual Consciousness. The abhyasi is asked to imagine that he is seated in the Ocean of Bliss, (2) that the waves of the Ocean are passing through him, & (3) that he is being cleaned by the waves which are passing through him, of all dirt and disease.

The Ocean of Bliss or Ananda is the highest discovery of the Vedic seers who stated that the Ultimate Brahman is Sat (Being) Chit (intelligence-power) and Ananda (bliss). The highest of the three again is Ananda or bliss. Therefore the highest power of Reality is imagined as an Ocean in which one is merged. This is of course the truth and reality which has been forgotten owing to our ignora-nce. Therefore it is that it has the greatest subtle power. Ocean only denotes vastness (anantatva) and also depth. The great Amarasimha, author of the Amarakosa begins his work with the prayer : O Thou Ocean of Mercy and Knowledge which is unfatho-mable and undimishable (incorruptible), which the Seers (dhirah) seek and serve, Thee do I pray for

the sake of transcendent wealth (Sri) and immortality (Nectar or amrta).❀ The purana describes Visnu as resting in the Ocean of Milk—milk, which is protective of the highest life and sustaining the immortal being. Indeed the allegorical story of churning of the Ocean of milk producing Sri and Nectar reveals that the Visnu who has taken both of them for his portion, one as his eternal inseparable companion and another to give to real seekers of the Immortal life Divine, is implied in this beautiful prayer. So too for the sake of the Immortal and the Highest state which is that of God himself one has to feel that the Divine who has been earlier prayed to (cf. Sri Ramchandraji's Prayer) has condescended to come to us in the very form of the Ocean of mercy and true knowledge to purify us.

The most important fact about man's present condition is that he is a pilgrim towards God. His past experiences in all sorts of ways have provided him with karmas and samskara swhich are part of his equipment. These interfere with his progress & indeed so deeply are they secreted in man that it is difficult even to recognize their existence within oneself. The Jaina theologians or abhyasis have spoken of the twofold purification of one's nature so that the material particles may be burnt out or thrown out by tapas (austerity). They call the two processes nirjara and samvara. Nirjara helps us to throw out what is within us and samvara is that which helps us to shut out all that is trying to

❀Yasya jnana-daya sindhoh agadhah anaghag-unah Sevyatam aksayodhirah sa sriyaica amrataya ca
Amarasimha.

come into us. Man is constantly experiencing the incoming of experiences both pleasant and painful Master Ramchandraji has spoken of the necessity to clean the two points A and B so that all that is coming in could be prevented from coming into our body and that which has accumulated in us can be thrown out. Thus the purification is achieved completely and we begin to rise in spiritual life. These are preliminaries.

The meditation on the Ocean of Bliss (God) himself flowing into us from thefront to the rear removing all dirt and disease is the process which is achieved by the Master Himself and one can experience how wonderfully the energy of the Master flows into oneself and throws out the dirt and disease in the form of smoke from the back. The energy of the waves of Bliss is subtle and more effective than X-rays which penetrate and reveal the frame of man. In a similar way the abhyasi can see his own being full of radiance when the cleaning takes place by these divine waves.

Abhyasis must take this practice seriously because some of the diseases and disturbances are precisely due to the stirring up of the age-long dirt within and throwing them up gives rise to them. This should be taken as God's own work of cleansing and one should faithfully submit to the process. It leads to great lightness of the body as also illumination of one's nature.

Misunderstandings about Yoga.

I- YOGA AND WORLDLY LIFE

(Shri Ishwar Sahai)

The Value of Yoga as an important means of the realisation of the Absolute stands almost unchallenged. But unfortunately it is shrouded in mystery on account of the various misinterpretations, based on unpractised knowledge of the subject. Different writers and commentators have dealt with the subject from different levels of thought, based on reasons and arguments, treating parts as the whole. Generally what people mostly take into account is the physical aspect of Yoga and keep themselves attached to the attainment of certain supernormal powers. This is all that Yoga means to them. But the unnatural implications associated with it, e. g. physical detatchment from the world, segregation of sexes, bodily mortifications and the strangulation of the mind and Indriyas (senses), have turned down Yoga as an object of dread & disappointment for the common man in ordinary walk of life. This is solely due to want of proper understanding on the part of those professed teachers of Yoga, who themselves really do not know any thing of it except a few practices of Asanas, Pranayama or bodily

mortification. For this reason all that they pour forth from their stock of barren knowledge is but a mass of misinterpretations, false notions and unnatural impositions. In fact Yoga not being a fetish pursuit comprising of certain physical exercises of body and mind, followed mechanically for the attainment of certain powers, is really a great psychic science which is based on purely natural laws. It is quite simple, free from all anomalies & complications and deals directly with the instinctive faculties in the inner being of a man.

The real purpose for which Yoga is undertaken is not very difficult to understand. A silent craving for the realisation of Reality exists in every heart, though one may not be consciously aware of it in clear form. Numerous means for the gratification of this natural instinct are offered in the form of various Sadhanas prescribed by the different cults, but inspite of all that the problem remains a mystery and the hankering after its solution still continues. There may be different factors responsible for it, of which one may be the clear understanding of purpose for which the means are undertaken. This applies specially in the case of Yoga, which aptly may claim to be the most efficient means of realisation of the One-Absolute. This is the only purpose of Yoga in true sense. But for the realisation of the One Absolute — The Subtlest Being — it is essential to dispense with grossness of the individual self, as far as possible,

in order to assume the subtlest form of existence in close conformity to Nature. But, usually, as it is found today, the real motive of a pursuer of Yogic Path is the attainment of power and not the development of subtleness of being. This is definitely wrong for when the attention of the pursuer is located on power, it is only the power and not the subtleness that will develop by the practice of Yoga. Power, undoubtedly, is heavier and grosser than the subtleness we finally aim at. Consequently Yoga for the purpose of acquiring power is undoubtedly a deviation from the path and, hence, amounts to degradation of Yoga. But though certain extraordinary powers do develop as a result of Yogic attainments, their treatment as the object of pursuit is wrong and detrimental to our interest. The Shastric injunction against the utilisation of the powers thus gained also confirms the same view. But that is generally understood to apply only to matters of purely material gains, though it is not exactly so. As a matter of fact power in its absolute state has no action unless it associates with matter. Consequently for the utilisation of power, be it for any purpose—worldly or spiritual —, one has necessarily to revert to the same material plane from which he had started. Consequently the attainment of Yogic powers as the final aim is wrong and against the very principle of Yoga.

As regards practicability of Yoga in an ordinary worldly life, almost every one is fed up with

constant hearing that Yogic pursuit is impossible & impracticable in a normal Grahastha (Household) life, hence higher attainments in spirituality are not possible for a common man unless he gives up his worldly living, renouncing the world physically and assumes the saffron robes of a Sadhu. The same thing is being constantly preached from every platform even by saints of high renown and well-established supremacy. The credulous minds of people not being able to understand the true significance of things fall into delusion by these vain assertions. As a result they are tamely led to believe themselves to the quite unworthy and incapable for the Divine purposes and, therefore, the doors of Divine knowledge are permanently closed for them merely for the reason of their being a householder Can there be anything more unnatural and absurd or can they render greater disservice to those upon whom they depend for subsistence ? This demoralising influence has entered the very veins of every worldly man so deeply that he feels himself debarred from all higher Divine pursuits. But the absurdity of the view can well be brought to light if we only recall to mind the examples of so many great sages of the past who had attained highest spiritual approach in a Grahastha life all through. The main reason offered in support of that view is that the Grahastha life being associated with worldly attachment, keeps a man bound fast to the feelings of Maya-Moha (Undue attachment). Undue attachment with

transitory objects of the world is nodoubt a serious impediment on the Divine Path. But that does not mean that by giving up the worldly living or deserting ones children and relations, one gets definitely free from the feelings of undue attachment. Practical examples offer ample proof that it is seldom so. A brief review of the routine life of one of those self-styled renouncers will clearly show that though clad in saffron clothes it is all saturated with the feelings of worldliness just in the same way as that of a Grahastha. On the other hand he often contracts greater evils in the form of self-love, self-indulgence, arrogance and pride, of which a householder is mostly free to a greater extent. In short our real problem is to conquer the feelings of Maya-Moha for which forced detachment imposed by external means is no solution at all It rather pertains to the inner feelings of the heart for which we have to look to the proper moulding of the mind that entertains all such harmful feelings. If that is mended everything is set right and one may become totally free from feelings of undue attachment even though he be leading a worldly life connected with all the worldly objects.

The next important point in this connection is the indiscriminate enforcement of strict Brahmacharya or celebacy which is proclaimed as a vital essential for the Yogic pursuit. But how do they define it, remains understood almost everywhere. In ordinary sense it is taken to mean complete

segregation of sexes, and the same view is represented by all preachers of yogic sermons. But though the importance of Bramhacharya can in no way be underrated, not only in the spiritual field but also in all phases of human life, yet its application as commonly insisted upon is far too much than what is actually needed for the purpose. The most commonly accepted notion of Bramhacharya is total abstenance from conjugal relation-ship. In this sense its uniform application at all stages of life is definitely wrong and against the law of nature. Both the sexes are the necessities of Nature and it is not without purpose that they have come into existence. Thus total segregation of sexes proclaimed under rules implies open violation of Divine law. Just imagine for a while the state of the world as it would be if all people follow Bramhacharya strictly in the above sense for the attainment of Yoga in Divine pursuit. Surely the world will in a brief span of time be deprived of the entire human race and will be turned into an abode of beasts and birds who are exempted from the application of this Ordinance. Surely God would never suffer the total extinction of the human species for the sake ff realization. Now since its Universal application is thus impracticable and unnatural, its application in particular cases too is equally unjustified on moral grounds.

The term Bramhacharya, in the true sense, implies perfect discipline and moderation in the

co-relationship of sexes avoiding abuse and extravagance arising out of feelings of lust and sensual enjoyment. If this evil is overcome the conjugal relationship turns into a sacred tie brought into effect for the fair discharge of Divine duty. Generally people think it to be an impossibility, and hold that putting together the conjugal relationship with the absence of sensual enjoyment is like bringing the two poles together. But it is not so. In fact it depends entirely upon the right training and proper regulation of mind which if thoroughly disciplined will lead to all-round adjustment in every phase of life.

Of course at different stages of life the form of Bramhacharya must necessarily be different according to the particular needs. In the early stage of life, which is a period of growth and development and is reserved for the acquisition of knowledge and self-discipline, complete segregation of sexes in thought, word and deed must strictly be adhered to. That means total abstenance from sexual feelings in the strictest sense. But during the later period which is reserved for worldly pursuits the rules of Bramhacharya must necessarily be different so as to meet the necessary requirement of the worldly life for the fair discharge of Divine duties. The conjugal relationship between sexes undertaken during the period demands modification of the rules. But that must strictly be confined within

proper limits related with due response to the natural urge or to the fair discharge of co-related duties. Under such conditions even a married man in his ordinary worldly life may rightly claim to be a Bramhachari in true sense. Thus it is not the conjugality which is detrimental to Yogic pursuits but only its abuse and the wrong ways of living which are to be mended. In fact Vairagya and Bramhacharya are the two frightly bogies set up by the self conceited teachers of Divinity to scare away the common people from the path of Yoga in order to maintain their elevated position as godheads of religion.

(Series of articles to be continued)

❀ ❀ ❀ ❀

An Abhyasi of a high calibre who was in a sufficiently advanced condition of spiritual development, however, complained that he remained feeling much perturbed due to thoughts arising in his mind.

The master jokingly enquired, "You told me, years ago, that you are mine whole and sole !"

"That I always remain." The sincere Abhyasi put in.

"Then, do the thoughts still remain yours, and hence, a source of worry to you ?" And the master smiled, with a piercing gaze at him.

The dazed Abhyasi plunged into thoughts without a reply.

The master explained further, "Very often progress is confused with pleasure. But, even so, the capacity to find a good thing to be pleasant also is itself a matter of gradual development."

Experiences of an Abhyasi.

[Under this permanent column, the personal experiences of the Abhyasis of our system of Sadhana are published. The names of the Abhyasis, however, are not published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in self-praise, while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters & events, while writing for this column, as may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana. —Editor]

Since the very dawn of my life, I found an atmosphere of worship and devotion to God in my home-environment. When my eyes opened, the seed of curiosity had already been planted in my heart as well. I started some sort of worship systematically at the age of seven. Along with a regular study (Patha) of Ramayan and Gita, Vinaya Patrika too has been very dear to me. At the age of about twelve or thirteen I aften found myself choked with emotion at the sight of tear-bedecked faces of two Rishis sitting before me at the time of Ramayan-Patha, wet with the tears bubbling out of a full heart. As time passed, my mind automatically went on becoming indifferent to Patha, and getting absorbed in the pleasure of reflective activity, it started, of itself, a search for some meditation. Very aften the whole night was spent in this search and prayer, without bringing rest and peace to me.

It was the beginning of the year.....One evening while I was leisurely sitting, it seemed to me that there flashed some kind of a celestial light in the sky, and within it suddenly appeared for a moment the figure of 'Ram'. There was again a flash of light, and the figure of 'Lord Krishna' within the sign of 'Omkar' appeared for a moment, as before. My head got bowed down, when I experienced a sudden jerk; and as my eyes turned to the sky, I found there a figure, lean and thin but majestic, with blessing hands. Now, after this for twenty four hours my condition was peculiar & beyond description. I am capable of telling only that moment after moment every hair of my body stood on its ends. The next night, while asleep, I dreamt of a big temple, with a majestic person at its gate. I asked the person to let me go in. He told me that only they could go inside the temple, who may cut off their heads and make an affering of these to him. I said, "Alright", and taking the sword placed beside him, I chopped aff my head, placed it in the hands of the majestic person, and entered the temple. Just then I woke up.

On the third day after this, my revered father learnt from one of his friends that a very good Yogi had come to the town, and was staying with a friend of his. The same evening my father went to see the Yogiraja; and, on return, according to his nature, he described all the characteristics of the new system of Sadhana–'Sahaj Marga'–told to

him by that householder Yogiraja 'Shri Babu Ji'. He spoke very highly of it all; and I learnt that the peculiarity of the 'Sahaj–Marga–Sadhana' consists in the use of transmission power, which has sometimes been the technique of the ancient saints and Rishis of our land. This much of difference is certainly there that in ancient times they mostly adopted the method of transmitting through speech, while in the Sahaj Marga system of Sadhana the heart remains the centre of everything. I learnt also that in this system 'Shri Babu Ji' transmits divine conditions to the aspirants through his sittings. On hearing this I felt my heart over–brimming with strange emotions

The next morning 'Shri Babu Ji' came to our home with my father. The very first glimpse of his holy being brought forth an exclamation from my lips, "I was pining in search of this and this person alone." I felt that I had found my Father from whom I have remained separated for innumerable lives and births. He too said, only He knows why, "I was also in search of you." And this made me out of myself. Thereafter the great sage gave a sitting to all of us. That sitting was simply marvellous. It seemed as if the thirsty soul would never say halt (बस) to the process of drinking some sort of a nectar. And then the bus (of spiritual prgress & condition) started & never came to a halt. What an auspicious day it was that even the condition of death in life itself came to be celebrated as an

auspicious function. There came stations like Moksha-Gati, Dagdha-beej, Jeevan-Mukti etc. now and then; & it is impossible to gauge the experience of bliss within. Day & night, sleep and awakening, roaming and resting-all started taking place in the courtyard of the inner being itself, as a result of which the Avadhuta-Gati began compelling me again & again to lose myself into it. But glory to the blessing hands of 'Shri Babu Ji', which, I still remember, never let me lose control over myself. What to talk of the people of the outer world, even the members of my own family could never know that a strangely mad fellow was living and being brought up in their midst, whose outward actions and movements never indicated madness due to the control of Shri Babu Ji's grace and compassion. The feet move on and on as if there is a limitless path spread before me. The hands took up the job of writing to Shri Babu Ji the changing conditions day after day. The heart gets flooded with joy while reading Shri Babu Ji's answers to these letters. On his arrival, I have experienced the whole town getting scented with a strangely holy fragrance.

Shri Babu Ji's whole personality is literally matchless. It is a matter of wonder that the hearts of all the brother and sister satsangis remain flooded with the vital power of his great heart, which is like a dynamo to which every heart gets plugged most suitably. He is so fond of fulfilling the desires

of his children ! I remember, my sister was on death-bed, when Shri Babu Ji asked me as to what he may do for her. I told him, "Babu Ji' Gita has been her favourite book, and she has always looked upon Nishkama-Karma-Yoga quite thirstily." Hardly within two minutes after I had completed my sentence, he said, "This condition I have awakend in her, for she had told you once that it was just on your request that she gave up all her worship and took up the Sahaj Marga way of Sadhana. Then let her have no occasion for a complaint; and she may have the idea just now that the final end of life is securely within her grasp." There was no limit to my happiness, but I did not write anything about this to her, in the hope that she herself might write her experience to me. And I received her letter, ".....How nice ! People have engaged a Pandit to read Gita to me, for I have always been fond of Gita-Patha, and am now unable to do it myself. But my condition is strange for whatever the Pandit reads is within my experience. And so I do not feel interested in the Patha now....."

Such is the natural way of Shri Babu Ji's affection ! In my case his sweet figure entered the heart, and tearing away the curtains of heart and mind, and plunging the self into various forms of innumerable oceans of bliss, shattered the berriers even of the conditions and the thirst for them, so that restlessness came to be a greater favourite than peace ! and pain became preferable to cure

He turned life into lifelessness and gave life again. From senses he brought me into a swoon, and then to senses again. He rightly declared once that only those will be courageous enough to have real faith in this subtle system of Sadhana, whom the Lord Himself mercifully chooses to withdraw unto Himself from the upheavals of the turbulent ocean of Becoming [Bhav-Sagar]. That indeed, however, remains but the beginning of the story. Really the Sahaj – Marga – Sadhana carries us far beyond. It is possible to say only that 'what is beyond all the visible, audible and imaginable came to experience in the twinkling of an eye. It is simply wonderful. How to describe it ! !.

--An Abhyasi

(Translated from Hindi)